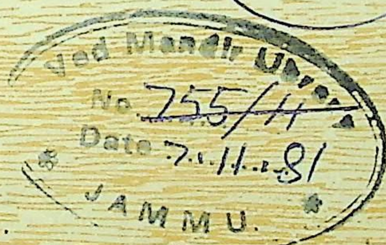
57
र्शन.

गीता-दर्शन

[२]

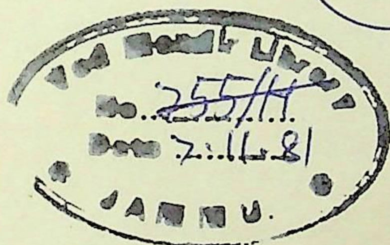
154

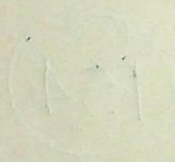


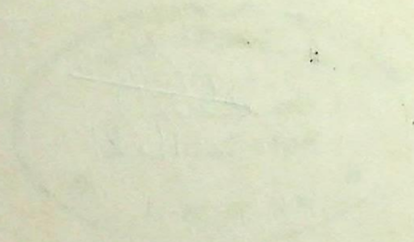
अनन्तश्री स्वामी
अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

संकलन कर्त्री
श्रीमती सतीशबाला महेन्द्रलाल जेठी




154
No. 255/H
Date 7.11.81
JAMMU.





गीता-दर्शन

[२]

अनन्तश्री स्वामी

अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज



संकलन कर्त्री

श्रीमती सतीशबाला महेन्द्रलाल जेठी

गीता-दर्शन
[२]
३० जून, ७८

प्रथम संस्करण–३५००
मूल्य–५·००

प्रकाशक :
सत्साहित्य-प्रकाशन ट्रस्ट
'विपुल', २८/१६
बी० जी० खेर मार्ग
बम्बई–४००००६
फोन–३६७९७६

मुद्रक :
विश्वम्भरनाथ द्विवेदी
आनन्दकानन प्रेस
सी-के० ३६/२०, ढुण्ढिराज
वाराणसी–२२१००१
फोन–६२६८३

आशीर्वाद

श्रीमती सरला एवं बसन्तकुमार बिरलाने कलकत्तामें गीता-प्रवचनके जो आयोजन किये थे, उनमें-से प्रथमवर्षका प्रवचन पहले प्रकाशित हो चुका है। अब द्वितीय वर्षका प्रवचन प्रकाशित होकर आपके हाथोंमें आ रहा हैं। लोगोंने गीता-दर्शनके प्रथम भागको बहुत पसन्द किया है। द्वितीय भागके लिए बड़ी माँग थी। उसके अनुसार यह प्रकाशन किया गया है। तृतीय भाग इसके बाद शीघ्र ही प्रकाशित होगा। चतुर्थ भाग भी लिखकर तैयार है। चतुर्थ भाग तो स्वयं श्रीमती सरला बिरलाने ही लिखकर तैयार किया है। ईश्वर उनकी आध्यात्मिक रुचिको दिनोंदिन बढ़ावे। उनका परिवार और वे मङ्गलमय एवं सुखी रहें।

प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय भागके प्रवचनोंको श्रीमती सतीशबाला महेन्द्रलाल जेठीने अत्यन्त परिश्रम एवं मनोयोगके साथ तैयार किया है। एक घण्टेका प्रवचन तैयार करनेमें १०-१२ घण्टे लग जाते हैं। रिकार्डसे सुनकर लिखना, संशोधन करना, दुबारा लिखना यह बहुत बड़ा काम है। इसमें प्रेम, लगन एवं परिश्रमकी बहुत बड़ी आवश्यकता पड़ती है। बड़ा सूझबूझ, सावधानी और मनोयोगसे संशोधन एवं सम्पादनका कार्य करना पड़ता है। सतीशबाला जेठी और डा० महेन्द्रलाल जेठीसे इतनी आत्मीयता हो गयी है कि उनकी प्रशंसा करना या धन्य-वाद देना अपनी ही प्रशंसाके समान है। अतएव मैं हृदयसे आयोजक, संशोधक एवं सम्पादकको आशीर्वाद देता हूँ कि भगवत्कृपासे उनकी सर्वविध उन्नति हो एवं दिनोंदिन भगवद्भक्तिकी वृद्धि-समृद्धि हो।

इसके परिष्कार-संस्कारमें श्रीदेवधर शर्माजीका प्रारम्भसे अन्ततक सहयोग एवं दृष्टिकोण रहा है, यह बात कभी भुलानेकी नहीं है।

—अखण्डानन्द सरस्वती

श्रीघनश्यामदासजी बिरलाका

समापन-भाषण

दिनांक १९-११-१९७५ ई०

पूज्य श्री स्वामीजी महाराज ! मैं अपने परिवारकी ओरसे और जो श्रोता लोग आये हैं, उनकी ओरसे आपको अनेक-अनेक धन्यवाद देता हूँ। आप संन्यासी होकर भी लोक-कल्याणके लिए, लोक-संग्रहके लिए, सब भूतोंके हितके लिए, कर्मयोगका जो अनुष्ठान कर रहे हैं, इसमें संसारका मंगल हो रहा है। आजकलके समय, जबकि लोग बड़े उद्विग्न रहते हैं, एक अमृतकी बूँद, प्रवचनके रूपमें मिल जाती है तो उससे शान्ति होती है, अपने कर्तव्यका ज्ञान होता है। आपने अनेक गूढ़ बातें श्रोताओंको बतायी हैं। यहाँ भी, बम्बईमें भी, जहाँ-जहाँ आप जाते हैं वहाँ-वहाँ प्रवचनोंके द्वारा लोगोंको लाभान्वित करते हैं।

मैंने जो कुछ सुना है, उसका सार-सार अगर मैं कहूँ तो एक ही है। आपने श्रोताओंसे यह कहा है कि अपना जो कर्तव्य है, उसको आप निष्काम भावसे करते जाओ। उसका फल क्या होगा, उसकी चिन्ता मत करो। अन्तमें ईश्वर आपको सहायता देगा। यह बात बुद्धिसे भी समझी जा सकती है कि फल आपके हाथमें नहीं है। गीताकार जब यह कहते हैं कि फलकी आसक्तिको त्यागकर अपना कर्म करो तो उसका मतलब यह नहीं कि आप उसका फल क्या होगा—यह मत सोचो। किन्तु आप यह भी सोचो कि फल आपके हाथमें है ही नहीं। क्योंकि अन्तमें कार्यका पूरा होना-न-होना बहुत सारी घटनाओंपर निर्भर होता है, जो आपके काबूमें नहीं हैं, आपके नियन्त्रणमें नहीं हैं। इसलिए समझदार

व्यक्ति बुद्धिसे भी सोच सकता है कि उसका काम केवल कर्म करना है और वह कर्म लोभके साथ नहीं किया जाना चाहिए। कर्म तो निष्काम होकर ही करना चाहिए, क्योंकि कर्मयोग केवल कर्मका नाम नहीं, कर्मयोग उसीका नाम है जो सबकी सेवाके लिए, सर्वभूतोंके हितके लिए, कामनाओंको छोड़कर शुद्ध बुद्धिसे किया जाता है। इसी कर्मयोगको स्वामीजी महाराजने, अच्छी तरह समझाया है। एक बात आप ध्यानमें रखिए, जब श्रीकृष्णने अर्जुनके सामने गीता कही तो किस स्थानपर कही ? युद्धभूमिमें कही। चारों तरफ जोरसे नगाड़े बज रहे थे, तलवारोंकी खनखनाहट हो रही थी, सब लोग उद्विग्न थे। उस समय अर्जुनने श्रीकृष्णसे यह कहा कि मेरी तबियत तो ढीली होती जाती है। मुझे कुछ सूझता नहीं कि मैं क्या करूँ ? ऐसे स्थानपर, ऐसे भीड़-भड़क्केमें, ऐसे शोरशराबेमें भगवान्‌ने जब अर्जुनको उपदेश दिया तब उसके बाद अन्तमें अर्जुनने यह कहा कि 'अब मेरा मोह नष्ट हो गया है। अब मुझे स्मृति आ गयी है, अब मैं—**स्थितोऽस्मि**—स्वस्थ हूँ, मेरी तबियत ठीक हो गयी है, आपने जो कहा उसे मैं करूँगा।' इससे आप यह समझिए कि शान्ति हिमालयकी कन्दराओंमें मिले—ऐसी बात नहीं। शान्ति तो कलकत्तेके भीड़-भड़क्केमें, बाजारोंमें भी मिल सकती है। वही शान्ति कायम रहेगी। हिमालयकी कन्दराओंमें किसीको जो शान्ति मिलती है, उसमें तो कलकत्ता आनेपर विघ्न आ जाता है।

तो स्वामीजी महाराजने कलकत्तेमें उपदेश देकर आपको यह बताया कि भाइयो, अपना कर्तव्य-कर्म करते जाओ—शुद्ध भावसे, लोगोंकी सेवाके लिए, लोगोंके हितके लिए और कामनाको छोड़कर। क्योंकि गीतामें जो सबसे बड़े दुश्मन बतलाये गये हैं, वे काम, क्रोध हैं—**काम एष क्रोध एष।** तो, काम और क्रोध—ये दो आपके दुश्मन हैं। कामना पूरी नहीं होती तब क्रोध आता है। इनको छोड़ो। यह जान लो कि ये तुम्हारे दुश्मन हैं। स्वामीजी महाराजने आपको कहीं विस्तारपूर्वक

और कहीं संक्षेपमें यह बताया है कि आप अपना काम करते जाओ। कलकत्तेके भीड़-भड़क्केमें भी करते जाओ। यहीं आपको शान्ति मिलेगी। इसीको सन्तोंने सीधी भाषामें कहा है कि—**काहे रे बन खोजन जाए।** भगवान्‌को खोजने वनमें क्यों जाते हो? वह तुम्हारे भीतर ही तो है। उसे भीतर ही खोजो। यह बात सही है। आप जब कोई काम करते हो तथा जब काममें लवलीन हो जाते हो और आपके पास आकर कोई आदमी खड़ा हो जाता है तो आपको पता भी नहीं चलता कि कोई आया है। इसी तरह जो भगवान्‌में लग्न होकर काम करता है उसको इस बातकी स्मृति हो जाती है कि कलकत्तेमें अशान्ति भी है। यही सब स्वामीजी महाराजने बताया है। हम इनके बड़े अनुगृहीत हैं। मेरा ख्याल है कि जैसे रोगीको दवाकी जरूरत होती है वैसे ही जो व्यवसायी समाज कलकत्तेमें रहता है, उसको ऐसे प्रवचनोंकी अत्यन्त आवश्यकता है। और, जैसा कि स्वामीजीने आज कहा, केवल गीता पढ़नेमात्रसे आपको समाधि नहीं लग सकती, गीता तो आचरणके लिए है। गीतामें पुनरुक्तियाँ काफी हैं और वह जान-बूझकर की गयी हैं। क्योंकि बार-बार घिस-घिसकर यह बताना है कि भाई, कर्म करो—कामना छोड़कर कर्म करो और वह भगवान्‌को अर्पण कर दो। इन्हीं बातोंको कई जगह अलग-अलग तरहसे बताया गया है। उसका हेतु यही है कि आप उसको पूरी तरहसे समझो और समझकर उसपर अमल करो। तभी आपको लाभ होगा, नहीं तो लाभ नहीं होगा।

अन्तमें मैं फिर अपने परिवार और श्रोताओंकी तरफसे स्वामीजी महाराजके प्रति अनेक कृतज्ञताएँ प्रकट करता हूँ कि उन्होंने यहाँ आकर हम सब लोगोंका कल्याण किया और प्रवचन देकर हमारा उपकार किया।

●

❁ सत्साहित्य पढ़िये ❁

पूज्यपाद अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज द्वारा विरचित एवं संस्था द्वारा प्रकाशित अनुपम आध्यात्मिक साहित्य

१.	माण्डूक्य-प्रवचन (आगम प्रकरण)	१०.००
२.	माण्डूक्य-प्रवचन (वैतथ्य प्रकरण)	७.५०
३.	माण्डूक्य-प्रवचन (अद्वैत प्रकरण)	४.५०
४.	अपरोक्षानुभूति-प्रवचन	६.००
५.	कठोपनिषद्-प्रवचन—१	९.००
६.	कठोपनिषद्-प्रवचन—२	१२.००
७.	मुण्डकसुधा	३.७५
८.	सांख्ययोग (दूसरा अध्याय)	९.७५
९.	कर्मयोग (तीसरा अध्याय)	६.००
१०.	ध्यानयोग (छठा अध्याय)	६.००
११.	ज्ञान-विज्ञान-योग (सातवाँ अध्याय)	६.००
१२.	विभूतियोग (दसवाँ अध्याय)	५.२५
१३.	भक्तियोग (बारहवाँ अध्याय)	६.००
१४.	ब्रह्मज्ञान और उसकी साधना (तेरहवाँ अध्याय)	९.७५
१५.	नारद भक्ति-दर्शन	९.००
१६.	गोपियोंके पाँच प्रेम गीत	०.४०
१७.	भागवत विचार-दोहन	३.५०
१८.	भक्ति सर्वस्व	७.००
१९.	मोहन नी मोहनी (गुजराती)	०.६०
२०.	श्रीमद्भागवत-रहस्य	३.७५
२१.	आनन्दवाणी, भाग ७	१.५०
२२.	श्रीभक्तिरसायनम् (संस्कृत)	१२.००
२३.	श्रीभक्तिरसायनम्-प्रपा (संस्कृत)	३ ००
२४.	गीता-दर्शन	५.५०

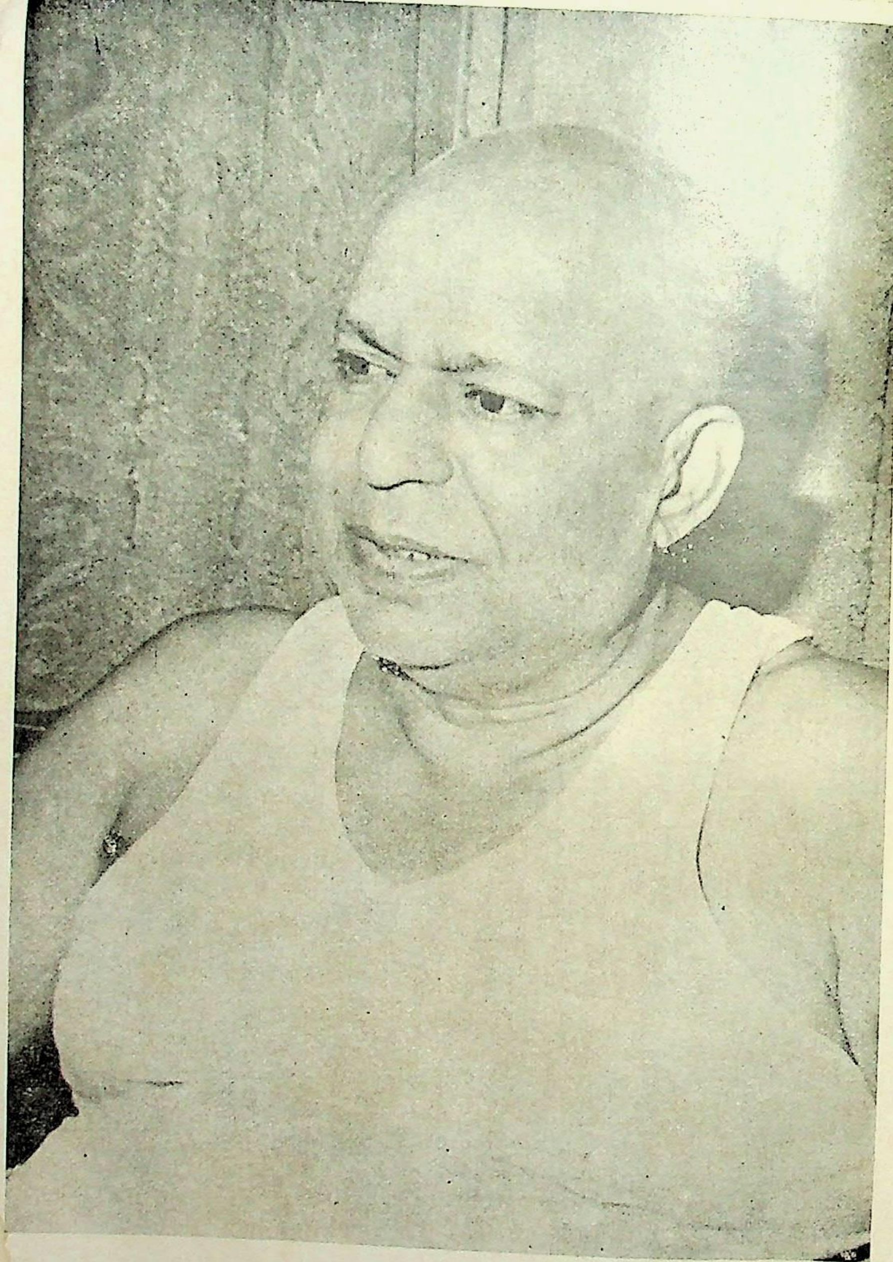
२५. साधना और ब्रह्मानुभूति		५.२५
२६. चरित्रनिर्माण आणि ब्रह्मज्ञान		१.५०
२७. महाराजश्रीका एक परिचय (गुजराती)		१.९०
२८. महाराजश्रीका एक परिचय		१.००
२९. आनन्दवाणी, भाग ५ (गुजराती)		२.२५
३०. आत्मबोध		३.००
३१. कपिलोपदेश		३.७५
३२. व्यवहार और परमार्थ		३.७५
३३. मानव-जीवन और भागवत-धर्म		४.५०
३४. राम शताब्दी-स्मृति		२०.००
३५. श्री उड़िया बाबाजी महाराज		५.००
३६. वेणुगीत		३.००
३७. ब्रह्मसूत्र-प्रवचन-(१)		१०.००
३८. ब्रह्मसूत्र-प्रवचन-(२)		१०.००
३९. ब्रह्मसूत्र-प्रवचन-(३)		१०.००
४०. माधुर्य-मयंक	(स्वामी सनातनदेव जी)	३.००
४१. माधुर्य-मकरन्द	”	३.००
४२. माधुर्य-लहरी	”	२.००
४३. माधुर्य-मंजूषा	”	३.००
४४. विवेक कीजिये		५.५०
४५. ज्ञान-निर्झर	(श्री डोंगरे जी)	०.९०
46. Glimpses of life Divine		1.50
47. An introduction to a realised Soul		0.40
48. Ideal and Truth		5.25

बृहद् सूची-पत्र निम्नलिखित पतेपर माँगें—

— सत्साहित्य-प्रकाशन ट्रस्ट —

'विपुल', ८/१६, बी० जी० खेर मार्ग, मलाबार हिल

बम्बई–४००००६



स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती

गीता-दर्शन–२

प्रवचन–१

प्रपन्नपारिजाताय तोत्रवेत्रैकपाणये।
ज्ञानमुद्राय कृष्णाय गीताऽमृतदुहे नमः॥

भगवान् श्रीकृष्ण प्रपन्नपारिजात हैं। जो उनके चरण पकड़ ले, उनकी शरणमें आजाये; उसके लिए कल्पवृक्ष हैं। स्वभक्त-पक्षपाती हैं। ब्रह्मका जो वर्णन वेदान्ती करते हैं, वह निष्पक्ष होता है, उसमें भक्ति-सम्प्रदाय चलानेकी आवश्यकता नहीं होती। परन्तु जहाँ सगुण-साकार परमेश्वरका वर्णन होता है, उसमें भक्ति-परम्परा अनिवार्य है। वहाँ भक्ति करनेसे लाभ होता है, न करनेसे हानि होती है। भगवान् अपनी शरणमें आये हुए की रक्षा करते हैं और उसके सारे मनोरथ भी पूरे करते हैं। यदि शरणमें जानेपर भी समानताका ही व्यवहार मिले, न्याय ही मिले तो कोई शरणमें क्यों जायेगा? शरणागति न्याय-प्राप्तिके लिए नहीं, सहायताके लिए सुरक्षाके लिए होती है। अस्तु; प्रपन्न-पारिजात हैं भगवान् श्रीकृष्ण। वे संयम और प्रशासन-स्वरूप तोत्र और वेत्रको अर्थात् घोड़ेकी लगाम और उसके बेकाबू होनेपर उसे दण्डित करनेके लिए चाबुकको अपने हाथमें रखते हैं। तात्पर्य यह है कि इन्द्रियाँ स्वच्छन्द नहीं हैं और उनके उच्छृङ्खल होनेपर उनको दण्ड देनेकी सामर्थ्य भी है। भगवान्के हाथमें तोत्र-वेत्र तो है ही वे ज्ञानमुद्रासे भी सुशोभित हैं। उनकी मुद्रासे

ही ज्ञानकी वर्षा होती है। वे सार्वजनिक हितकी दृष्टिसे ही गीताऽमृतका दोहन कर रहे हैं। ये सब शरण्यके लक्षण हैं। इसलिए आइये हम नमस्कार करें भगवान् श्रीकृष्णको, जो समस्त आकर्षणोंके, प्यारके केन्द्र हैं और सच्चिदानन्दघन परमेश्वर हैं।

श्रीमद्भगवद्गीतामें जो 'गीता' शब्द है वह संज्ञा भी है और क्रिया भी है—**गीताशास्त्रमिदं पुण्यं**। थोड़ा इसपर ध्यान दें। दुर्योधन और अर्जुन दोनों युद्धभूमिमें आते हैं। दुर्योधनका सारथि कौन है—इसका अनुसन्धान आप लोग करना। महाभारतमें ढूँढ़ना कि कहीं उसका नाम मिल जाये। अज्ञातप्राय सारथि है। इसका यह अर्थ है कि अज्ञान ही सारथ्य कर रहा है दुर्योधनका। इधर अर्जुनके सारथि हैं श्रीकृष्ण। दुर्योधन आचार्यके पास जाकर कहता है—**पश्यैतां**—'देखो यह सेना।' अर्जुनका कहना है कि—**यावदेतान्निरीक्षेऽहं**—'मैं निरीक्षण करूँगा।' देखते दोनों हैं सेनाको—दुर्योधन भी और अर्जुन भी। परन्तु दुर्योधनके मनमें विवेकका उदय नहीं होता। वह अपने पहलेके आग्रहपर ही अडिग है और अर्जुनके मनमें विवेकका उदय होता है। जो सोच-विचारकर काम करता है, उसको सफलता मिलती है और जो बिना सोचे-समझे, आग्रहवश, काम करता है, वह निष्फल होता है, विफल होता है।

अब आप अर्जुन और दुर्योधन दोनोंकी प्रवृत्तियोंमें जो अन्तर है, उसे देखो—एक तो भगवद्दृष्टिसे और दूसरे अर्जुनकी दृष्टिसे। भगवान् अपने शरणागतकी रक्षा करनेके लिए पूर्णरूपसे तैयार हैं। वे आज्ञाकारी तक बन गये हैं। अर्जुनने—**करिष्ये वचनं तव**—मैं तुम्हारी आज्ञाका पालन करूँगा—यह बात गीताके अन्तमें कही है। परन्तु श्रीकृष्णने गीताके प्रारम्भमें ही अर्जुनकी आज्ञाका पालन किया है—

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ।

यह श्रीकृष्णकी शरण्यताके सामर्थ्यका द्योतक है। श्रीकृष्ण इतने शरणागतवत्सल हैं कि अर्जुन उनसे छोटा होनेपर भी उन्हें आज्ञा दे देता है। अर्जुन जीव होनेपर भी श्रीकृष्णको आज्ञा देते हैं और श्रीकृष्ण ईश्वर होकर भी जीवकी आज्ञाका पालन करते हैं। जब ईश्वर अपने ऐश्वर्यको स्वभक्तपर बलिदान कर देता है तो भक्तमें ऐसा क्या सामर्थ्य है कि वह ईश्वरके प्रेममें, ईश्वरकी भक्तिमें, अपने ऐश्वर्यका बलिदान न करे? श्रीकृष्ण अपनी ईश्वरताको एक ओर किनारे रखकर अर्जुनके सारथिका काम करते हैं। **सारयति अश्वान् इति सारथिः**—जो हमारे जीवनका संचालन करे उसका नाम सारथि होता है। यह हम आपको बता चुके हैं। युद्धमें दुर्योधनकी जो प्रवृत्ति है, वह स्वार्थकी है। वह कहता है कि **मदर्थे त्यक्तजीविताः**—मेरा अर्थ पूरा होगा और सैनिक मरेंगे। ये सब मेरे हितार्थ मरनेके लिए तैयार होकर आये हैं। किन्तु अर्जुनकी युद्धमें प्रवृत्ति लोकहितके लिए है—

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।

मैं अपने लिए राज्य और भोग-सुख नहीं चाहता। जिनके लिए चाहता हूँ, वे मरनेके लिए तैयार हैं। फिर युद्ध करनेसे क्या लाभ है? अस्तु; अर्जुनकी भाँति विवेक करके ही काम करना चाहिए। सहसा, बिना विचारे कोई काम नहीं करना चाहिए।

अभिवर्षति योऽनुपालयन् विधिबीजानि विवेकवारिणा ।
स सदा फलशालिनीं क्रियां शरदो लोक इवाप्नि तिष्ठति ॥

विवेकके कारण ही अर्जुनके मनमें जिज्ञासाका भाव उदय हुआ। जो विवेक करता है, उसके सामने दो पक्ष आ जाते हैं। विवेक करनेका मतलब है दो अथवा अनेकमें-से एकको चुनना।

विचिर्-पृथग्भावे विविध वस्तुओंको उनके सम्मिश्रणमें-से अलग-अलग करनेका नाम संस्कृत भाषामें विवेक है। अर्जुनके मनमें तो कर्तव्याकर्तव्य सम्बन्धी विवेक जागृत हुआ, परन्तु दुर्योधनके मनमें जागृत नहीं हुआ। उसकी बुद्धि करवट बदल रही है। वेदमें एक मन्त्र आता है—**कलिः शयानो भवति** जो सो गया वह कलियुग हो गया। **संजिहानस्तु द्वापरः** जो सजिहाने लगा, करवट बदलने लगा वह द्वापर हो गया। **उत्तिष्ठन् त्रेता भवति** जो खड़ा हो गया वह त्रेता हो गया। **कृतं संपद्यते चरन्** जो अपने कर्तव्यके मार्गमें लक्ष्यप्राप्तिके लिए आगे बढ़ने लगा वह सत्ययुग हो गया।'

इसी प्रकार अर्जुन सोया हुआ नहीं है, सुषुप्त नहीं है। उसकी बुद्धि जागृत हो रही है। **धर्मसंमूढचेताः**—वह अपनी मूढ़ताको समझता है। किन्तु, दुर्योधन अपनेको मूढ़ नहीं मान सकता। मूढ़का लक्षण यही है कि वह अपनेको मूढ़ नहीं मानता, अपनी मूढ़ताको नहीं समझता। जो जागरूक है, वह अपने मोहसे परिचित है, अपनी गलतियोंको भी समझता है। इसीलिए वह कहता है—

यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे।

जिससे मेरा हित हो, मुझे बताओ। वह श्रेयका जिज्ञासु है। गीतामें श्रेय शब्दका प्रयोग एक बार नहीं अनेक बार हुआ है। **श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके**—मैं भीख माँगकर खाऊँगा, परन्तु हिंसा नहीं करूँगा। यही सबसे बड़ा श्रेय होगा।

इस बार मुझे आपको पाँचवें अध्यायका प्रसंग सुनाना है। पिछली बार चार अध्याय पूरे हुए थे। भूमिकाके रूपमें आप लोग थोड़ी-सी बात समझ लें। मनुष्यके जीवनमें पुरुषार्थ चार होते हैं। कोई-कोई पाँच भी मानते हैं। हमको अर्थ चाहिए, धन

चाहिए, जो भी चाहिए, उसकी दृष्टिसे हमें विचार करना पड़ेगा कि उसके लिए साधन क्या है, इस प्रश्नको लेकर उड़ान नहीं भरना चाहिए कि गीतामें कर्म करनेके लिए कहा गया है या कर्म छोड़नेके लिए अथवा उसकी मीमांसा क्या प्रस्तुत की गयी है ? पहले यह देखना चाहिए कि हमारा लक्ष्य क्या है ? यदि हमें संसारकी सम्पदा चाहिए तो न ऐसा कोई शास्त्र है, न कोई परमेश्वर है, न महात्मा है—जो कह दे कि धन चाहनेवालेको कर्म नहीं करना चाहिए। है कोई ? इसलिए यदि धन चाहिए तो जहाँ धन मिलेगा, वहाँ पहुँचना पड़ेगा। जो विचारपूर्वक कर्म करता है, उसके गलेमें गुणकी लालची सम्पदाएँ स्वयं वरमाला पहनाती हैं—

सहसा विदधीत न क्रियाम्
अविवेकः परमापदां पदम्।
वृणुते हि विमृश्य कारिणं
गुणलुब्धाः स्वयमेव संपदः॥–किरातार्जुनीय

सम्पत्ति उसीका वरण करती है जो गुणी हो, शीलवान हो, वृद्धके आश्रयमें रहता हो और कृतज्ञ हो। कृतज्ञता बड़ा भारी गुण है, जो अपनेको लाभ पहुँचानेवालेके प्रति कृतज्ञता प्रकट करनेमें कृपण होता है, सम्पत्ति उसका साथ नहीं देती। मनुष्यको कृतज्ञ होना ही चाहिए। अस्तु; यदि सांसारिक सम्पदा प्राप्त करनी है तो आपको कर्म करनेसे रोकना या उसके प्रति सन्देह उत्पन्न करना किसी भी दृष्टिसे उचित नहीं है। यदि भोग प्राप्त करना हो तो उसकी प्राप्ति भी बिना कर्मके नहीं होती। इस हास्योक्तिका तो पिछली बार भी उल्लेख किया जा चुका है कि यदि विष्णु भगवान् भी आलस्यमें ही रहने लगें तो लक्ष्मीजी उनको छोड़कर चली जाएँगी—**विमुञ्चति श्रीरपि चक्रपाणिम्।**

अतः मनुष्यको कर्मशील रहना चाहिए। बिना कर्मके न धन मिलता है, न भोग मिलता है। चाह मनमें हो किन्तु कर्म न हो तो आदमी पागल हो जाएगा। या तो चाह मिटानेके लिए प्रयास करो या चाह पूरी करनेके लिए प्रयास करो, प्रयास तो दोनों ओर रहेगा-ही-रहेगा।

अब धर्मको लें। धर्म तो कर्मरूप ही है। यदि आप धर्म चाहते हैं तो भी कर्म करना ही पड़ेगा। बिना कर्मके धर्म कैसे होगा? इसलिए गीतामें जब यह प्रश्न उठता है कि कर्म करना चाहिए या नहीं करना चाहिए तो उसमें दुविधाकी कोई बात न धन चाहनेवालोंके लिए है, न भोग चाहनेवालोंके लिए है और न धर्म चाहनेवालोंके लिए ही है। कर्मसे धर्मकी उत्पत्ति होती है– यह एक मत है और स्वयं विहित कर्म ही धर्म है यह दूसरा मत है। **यं क्रियमाणम् आर्याः प्रशंसन्ति**—जब हम कोई काम करें और बड़े बूढ़े उसकी प्रशंसा करें कि तुमने बहुत बढ़िया काम किया तो वह धर्म हो जाता है। परम्पराका परित्याग करके, नवीन धर्मकी कल्पना की जाती है तो उसको वृद्धोंका आशीर्वाद नहीं मिलता। धर्म भी दृश्यमान पदार्थ है, दिखायो देनेवाला है। जहाँ अन्तःकरणकी शुद्धिपर दृष्टि है वहाँ कर्म धर्म हो जाएगा। हम जो कर्म वस्तुकी प्राप्तिके लिए, भोगकी प्राप्तिके लिए करते हैं, वह श्रम है। लोहा साफ करने, रुई साफ करने, सूत साफ करने, धातु साफ करने आदिमें जो कर्म होता है उसको श्रम बोलते हैं और इसको करनेवाले श्रमिक कहलाते हैं। किन्तु अपने हृदयमें परिवर्तन लानेके लिए, अन्तःकरणको शुद्ध करनेके लिए, आत्म-दृष्टिसे, आध्यात्मिक उद्देश्यसे जो कर्म होता है, उसको धर्म कहते हैं।

वेदान्तमें भी जहाँ कर्म-संन्यास कहकर लोग गड़बड़ फैलाते

हैं, वहाँ वेदान्त-सिद्धान्त ठीक-ठीक न जाननेवालोंके मनमें ही शंका होती है। कर्म करनेसे ज्ञानकी इच्छा पैदा होती है, विविदिषा एवं जिज्ञासा उत्पन्न होती है—ऐसा भामती-कारका अभिमत है। कर्म करनेसे ज्ञान ही उत्पन्न होता है, विद्या उत्पन्न होती है—यह विवरण-प्रस्थानका अभिप्राय है। तो कर्म करनेसे ज्ञान हो जायेगा अथवा कर्म करनेसे ज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छा हो जायेगी—यह मतभेद तो वेदान्तोंमें है; परन्तु कर्म करना ही नहीं चाहिए, यह मत वेदान्तोंका नहीं। बड़े-से-बड़े संन्यासीको भूख मिटानी हो तो पाँवसे चलकर गाँवमें जाना होगा, गृहस्थके दरवाजेपर खड़े होकर 'नारायण-हरि' बोलना पड़ेगा और भिक्षा प्राप्त करनी होगी। जब भिक्षा चाहिए तो उसके साथ कर्मका सम्बन्ध अवश्य जुड़ेगा। कुछ पाना है तो कुछ करना पड़ेगा। मोक्ष-पुरुषार्थमें कर्मका सम्बन्ध कैसे जुड़ता है? यह एक प्रश्न है। हम ज्ञानको मिलाकर कर्म करें या कर्मसे अलग करके ज्ञानके द्वारा मोक्ष प्राप्त करें अथवा दूसरे शब्दोंमें ज्ञान-कर्मसे संयुक्त होकर हमारे मोक्षका साधन होता है या कर्मसे पृथक् होकर—यह प्रश्न उठाया हुआ है। जब हम मोक्षकी नित्यतापर ध्यान देते हैं तब प्रतीत होता है कि मोक्ष पहलेसे नित्य-सिद्ध है और वह जाननेमात्रसे ही मिल जाता है। जैसे कोई रासायनिक पदार्थ पहलेसे मौजूद होता है, हम उसे पहचानते नहीं, परन्तु, प्रयोगके द्वारा, यन्त्रके द्वारा, दूरबीन, खुर्दबीनके द्वारा उसे देख लेते हैं। वैसे ही मोक्ष नित्य विद्यमान है, अपने आत्माका ही स्वरूप है और हम अज्ञान तथा मोह-निवृत्तिकी प्रक्रियाके द्वारा उसको जान लेते हैं—**निवृत्तिरात्मा मोहस्य ज्ञातत्वेनोपलक्षितः** मोहकी निवृत्तिसे, अविद्याकी निवृत्तिसे उपलक्षित आत्मा ही मोक्ष है। अर्थात् मोक्ष हम स्वयं ही हैं। परन्तु यह बात मालूम नहीं पड़ती। अतः जो मालूम न पड़ना

है, उसको मिटानेके लिए प्रयास करना पड़ता है। इस प्रकार मोक्षके लिए कर्मका जो बड़ा भारी उपयोग है इसको वेदान्ती लोग चार श्रेणियोंमें बाँटते हैं। हमारे ऊपर अनेक ऋण हैं। यद्यपि आजकलके बच्चे तो नहीं मानते पर ऋण तो है ही—पितृऋण है, देवऋण है, ऋषिऋण है। इन ऋणोंको उतारनेके लिए मनुष्यको कर्म करना चाहिए। ऋण-अपाकरण द्वारा किया हुआ कर्म मोक्षका साधन है—ऐसा वेदान्तियोंका एक मत है। हम माँके पेटमें दस महीने रहे। पहले तो माँका दूध भी पीते थे। अब भी माँका दिल अपने बच्चेको दूध पिलाये बिना कैसे मानेगा? जो माँ अपने बच्चेको दूध नहीं पिलाती, उसके बारेमें तो बरबस यही कहना पड़ेगा कि,

तेरो कठिन हियो री माई।

केवल जवानी बहुत दिनोंतक बनी रहे, शरीर ढीला ढाला न दिखाई दे, इसके लिए अपने बच्चेके मुँहमें अपना दूध न डालना, किसी माँसे कैसे हो सकेगा? जो माँ अपने बच्चेको दूध नहीं पिलावेगी, वह यह आशा कैसे रखेगी कि उसका बच्चा अपनी परम्पराको, अपने पैतृक धर्मको मानेगा?

कर्मका उपयोग किस प्रकार होता है? एक तो जो हमारी परम्पराका ऋण हमारे ऊपर आया है—माता-पिताके द्वारा, नाना-नानीके द्वारा, दादा-दादीके द्वारा, पूरे गोत्रके द्वारा—वह उतारनेके लिए हमें अपने कुलसे सम्बन्ध रखकर उसके कर्त्तव्योंका पालन करना चाहिए। नहीं तो मनुष्य कृतघ्न हो जाता है और कृतघ्नताके दोषसे उसके ज्ञानमें बाधा पड़ती है। दूसरा है देव-ऋण। हम जो सूर्य देवतासे प्रकाश ग्रहण करते हैं, वायु देवतासे सांस लेते हैं, वरुण देवतासे—पानीसे अपनी प्यास बुझाते हैं, अपने आपको तृप्त करते हैं, पृथिवी देवीपर चलते हैं, उसको अपने

पाँवसे रौंदते हैं, यह क्या उनका थोड़ा ऋण है हमारे ऊपर ? अतः हमारी इन्द्रियाँ व्यष्टि-समष्टिसे जो शक्ति प्राप्त करती हैं, उसके लिए भी हमको कुछ करना चाहिए। आप यदि पूछें कि क्या करना चाहिए, तो इसका उत्तर है धरतीको, जलको, वायुको साफ-सुथरा और शुद्ध रखनेका प्रयास करना चाहिए। वातावरण-को पर्यावरणको दूषित नहीं होने देना चाहिए। आप कूड़ेका धुँआ तो आसमानमें उड़ा देते हैं परन्तु धूपका धुँआ उड़ाना हो तो कहते हैं कि फिजूलखर्ची है। आप पनाला तो गंगाजीमें गिरा देते हैं, लेकिन उसमें पावभर दूध डालना हो तो कहते हैं यह अपव्यय है, व्यर्थ है। ऐसा नहीं होना चाहिए। आप जानते हैं हमारे शास्त्रोंमें धरतीकी, जलकी, वायुकी, अग्निकी पूजाका विधान है। हम पूजा उसीकी करते हैं, जो हमारा आदरणीय होता है, उपकारी होता है। पूजाका तात्पर्य है श्रद्धाकी अभि-व्यक्ति। व्यष्टि-समष्टिसे अनुग्रह प्राप्त करके ही जीवित रहता है। यदि वह इस बातको भूल जाये तो कृतघ्न बन जाता है। हम जीवित रहनेके लिए सांस लेते हैं, देखनेके लिए प्रकाश ग्रहण करते हैं, किन्तु वायु और सूर्य हमसे कोई शुल्क नहीं लेते। हम जलमें स्नान करते हैं, मैल धोते हैं, परन्तु वरुण देवताका कोई बिल हमारे पास नहीं आता। इसी तरह अन्य देवताओंके ऋण भी किसी-न-किसी प्रकार हमारे ऊपर हैं और यदि हम उनको न चुकाएँ तो वे हमारे अन्तःकरणको अशुद्ध करते हैं और सत्यके ज्ञानमें बाधा डालते हैं।

अब आप ऋषि-ऋणपर ध्यान दें। हमारा एक भी अक्षर, एक भी शब्द, एक भी वाक्य, एक भी ज्ञान ऐसा नहीं, जो हमें ऋषियोंसे प्राप्त न हुआ हो। ये स्वर और व्यंजन—अ आ, इ तथा क, ख, ग—क्या अपने पेटमें-से लेकर हम आये हैं ? घ्राणेन्द्रियको नाक कहिये अथवा श्रवणेन्द्रियको कान कहिये, इसका व्यवहार-

ज्ञान हमको कहाँसे मिला ? तत्त्वदर्शी ऋषियोंने ही पद और पदार्थका बोध कराया। उन्होंने ही निश्चय किया है कि यह पद है, यह पदार्थ है। आपको तो शायद मालूम ही होगा, दूसरे देशोंमें भाषाके जो विद्वान् हैं वे ऐसा मानते हैं कि शब्द इशारेके रूपमें बनाये गये हैं। किन्तु अपने यहाँ जो प्राचीन शास्त्र हैं, उनमें माना गया है कि वाच्य और वाचक दोनों एक साथ ही प्रकट हुए हैं। शब्द और अर्थ, वाक् और तात्पर्य हमेशा मिले हुए होते हैं। जब कोई वस्तु प्रकट होती है तो अपना नाम लेकर ध्वनि करती हुई ही प्रकट होती है। उसके स्पन्दनमें उसका संकेत विद्यमान रहता है—**औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः।** यह गम्भीर दृष्टिकोण ऋषियोंका ऋण मिटानेके लिए, उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करनेके लिए आवश्यक है। हमें ऋषियों द्वारा निर्मित शास्त्रोंका स्वाध्याय करना चाहिए। अन्यथा हम उनके शब्दोंका, संकेतोंका प्रयोग तो करें किन्तु उनके प्रति कृतज्ञ न हों तो कृतघ्नताका दोष लगता है।

तो जगत्‌में जो पदार्थ हैं, उनको पवित्र रखनेके लिए, शुद्ध रखनेके लिए हमें कर्म करना चाहिए। हम समझ जाएँ कि इस संसारको कोई भी वस्तु दूषित नहीं करनी है। हवा गंदी नहीं करनी है, पानी गंदा नहीं करना है, आग गंदी नहीं करनी है, पृथिवी गंदी नहीं करनी है और अपने हृदय, शरीर और समाजको भी गंदा नहीं करना है। इसके लिए हमको सतत कर्म करना चाहिए। अपनी परम्पराकी रक्षाके लिए भी कर्म करना चाहिए। और हमारे ज्ञानकी जो धारा चली आ रही है, उसे प्रवहमान बनाये रखनेके लिए भी हमें निरन्तर कर्मपरायण रहना चाहिए। यदि आप ज्ञानधाराकी रक्षा करोगे, तो आगे आपका जो ज्ञान है, उसका भी उपयोग होगा। अन्यथा आपका ज्ञान आपतक ही सीमित रह जायेगा। अतः इन सब दोषोंकी निवृत्तिके लिए अन्तः-

करणकी शुद्धिमें उपयोगी कर्मका अनुष्ठान हमें करते रहना चाहिए। देवताकी आराधनासे आगे बढ़कर ही हम प्रजापतिसे, हिरण्यगर्भसे एक होकर समष्टिका ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। उसमें राम भी हैं, श्याम भी हैं, शिव भी हैं, अन्तर्यामीका भी वहीं अनुभव होता है। सर्वात्मभावकी प्राप्ति करके, प्रजापतिसे तादात्म्यापन्न होकर जो समष्टिका विज्ञान है, उसको प्राप्त करनेके लिए भी कर्म करना चाहिए। हमारे मनमें सर्वात्मा सत्यके ज्ञानकी इच्छा हो, उत्पत्ति हो, इसके लिए भी कर्म करना अनिवार्य है। कर्म तत्त्वज्ञानके मार्गमें सर्वथा उपयोगी है। यदि उसमें मतभेद है तो केवल इतना ही है और वह भी सिद्धान्तका है कि कर्मसे जिज्ञासाकी उत्पत्ति होती है या कर्मसे ज्ञानकी उत्पत्ति होती है? यह बात मैं शाङ्कर सम्प्रदायको स्वीकार करके आपको सुना रहा हूँ। हमारी सम्प्रदाय-परम्पराके अनुसार कर्म त्याज्य नहीं है और गीता तो साफ ही बोलती है कि **यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।** अर्थात् यज्ञ, दान और तप पवित्र कर्म हैं। इन्हें भली-भाँति सोच-विचारकर मनीषापूर्वक करना चाहिए। मनीषि शब्दका अर्थ होता है मनका नियन्त्रण करनेवाला। मनका अर्थ आप जानते ही हैं। उसमें तरह-तरहके संकल्प होते रहते हैं। उसका जो नियन्त्रण और संचालन करता है, उसका नाम मनीषि होता है। आप कैसे काम करते हैं? जो मनमें आता है, वही करते हैं कि सोच-विचारकर करते हैं? बचपनमें गाँवके रास्तेपर चलता था तो मनमें आता था कि आगे चलने-वालेको दौड़कर पीछे कर दें। कभी-कभी तो जब कोई जल्दी पीछे नहीं होता था तो उसको ढकेल देनेका मन होता था। अब मोटरमें चलते हैं तो ऐसा मालूम पड़ता है कि पैदल चलने-वालोंको चलनेका शऊर नहीं है और जब कभी पैदल चलते हैं तो ख्याल होता है कि मोटर चलानेवाले हमारे साथ अन्याय कर

रहे हैं। यह है हमारे मनकी स्थिति। यदि हम अपने मनका ही कहना मानें, जो मनमें आवे वही करने लगें और अपने विवेकको छोड़ दें तो हममें और पशुमें क्या अन्तर रह जायेगा? पशु भी तो बहुत विचारवान् होते हैं और सोच-विचारकर, योजना बनाकर काम करते हैं। ऐसा पशुओंका निरीक्षण करनेपर विदित होता है।

ऐसी स्थितिमें यदि आप अपने मनको शुद्ध करना चाहते हैं तो उसे काबूमें रखकर बुद्धिके द्वारा विचार करके जो उचित प्रतीत हो वही कीजिये। भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें श्रेयकी उपलब्धिके लिए, प्रेयकी प्राप्तिके लिए कर्म करना अनिवार्य बताया है। यह बात आपको कहीं भी न तो सुननेको और न पढ़नेको मिलेगी कि संसारमें अपनेको जो प्रिय लगता है, उसकी प्राप्तिके लिए कर्म नहीं करना चाहिए। कर्मका निषेध तो कहीं है ही नहीं। मतभेद वहाँ खड़ा होता है, जहाँ आप मोक्ष और परमात्माकी प्राप्तिके लिए आगे बढ़ते हैं। अर्जुनके प्रश्नोंको देखिये, उनमें भी तारतम्य है। अर्जुन प्रश्न करके चुप हो जाते हैं और अपनी इच्छाके विपरीत भाव भी प्रकट कर देते हैं। वे कहते हैं—

यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे।

वे कहते हैं कि मेरे लिए जो कल्याणका साधन है, वह आप कृपा करके बताइये कि युद्ध करूँ या न करूँ। फिर इस प्रश्नके साथ ही यह बोलते हैं कि मुझे युद्धमें मत लगाइये। मैं युद्ध नहीं करूँगा—**न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूर्ष्णीं बभूव ह।**

अरे भाई, जब पूछते हो तो मैं जैसा कहूँ वैसा करो। नहीं लड़ूँगा ऐसा क्यों कहते हो? प्रश्न पूछना और फिर उसके साथ-साथ निश्चय प्रकट कर देना तो मोहका लक्षण है। निस्सन्देह

अर्जुनके प्रश्नमें मोह भरा हुआ है। इसी प्रकार तीसरे अध्यायवाले प्रश्नमें थोड़ा आक्षेप है।

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।

चौथे अध्यायके प्रश्नमें संशय है—

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।

और इस पाँचवें अध्यायके प्रारम्भमें जो प्रश्न हैं, वह जिज्ञासु-समुचित है—

सन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च संशसि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्॥

इस प्रश्नमें बड़ी भारी श्रद्धा है। अर्जुन श्रीकृष्णको बिना किसी शिष्टाचारके, केवल कृष्ण कहकर पुकारते हैं, क्योंकि वे परस्पर मित्र हैं। हमको एक महात्माने सुनाया था कि जब दो मित्र आपसमें मिलते हैं तो एक दूसरेके बारेमें जानकारो रहनेके कारण वे संक्षेपमें संकेतसे भी अपनी बात-चीत कर लेते हैं। मित्रकी बात मित्र ही समझता है। तात्पर्य यह निकलता है कि यदि आप श्रीकृष्णसे मैत्री नहीं करेंगे, केवल विद्या, बुद्धि, पदार्थोंकी पहचान, व्याकरण, काव्य, कोश आदिके ज्ञानके बलसे उनकी बात समझनेका प्रयास करेंगे तो आपको बड़ी कठिनाई होगी। मैंने एक अवधूतको देखा, वे यह कहकर रोने लगे कि तुम गीताके अर्थके लिए शास्त्रार्थ करते हो। अरे भाई! पहले अर्जुनके सखा श्रीकृष्णको अपना सखा बनाओ। जब श्रीकृष्ण तुम्हारे सखा बनेंगे तो सखाकी बात स्वयं तुम्हारी समझमें आने लगेगी। कृष्ण शब्दमें न भगवत्ता है, न सर्वज्ञता है और न उसके साथ कोई विशेषता या सम्बोधन है। वह तो वैसा ही है, जैसा व्रज-वासी कन्हैया भैया बोलते हैं। तो, अर्जुनके पूर्वोक्त प्रश्नका सीधा-

सादा अर्थ यही है कि तुम कभी कर्मकी प्रशंसा करते हो, कभी कर्म-संन्यासका वर्णन करते हो। (यहाँ शंसनका अर्थ वर्णन ही है।) कभी कर्मत्याग–कर्म-संन्यासकी महिमा सुनाते हो तो कभी कर्मानुष्ठानका समर्थन करते हो। तुम जो कुछ भी कहते हो ठीक होगा। परन्तु मेरा श्रेय किसमें है, यह साफ-साफ बताओ। दुविधाकी बात मत करो कि यह कर लो, वह कर लो। अर्जुनके इस कथनसे यह ध्वनि निकलती है कि अब वे आज्ञा-पालन करनेके लिए भी तैयार हैं।

अर्जुन शब्दका संस्कृतमें अर्थ होता है कि जो ज्ञानका अर्जन करे, धनका अर्जन करे। धनञ्जय शब्दका पर्यायवाची है अर्जुन। **अर्जनात् अर्जुनः**। जो धनार्जन करे वह धनञ्जय। धन केवल सोना-चाँदीका ही नाम नहीं होता। सबसे बड़ा–परम धन तो विद्या धन है, ज्ञान धन है। महाभारतमें अर्जुन शब्दका अर्थ **ऋजुत्वात् अर्जुन** किया है। जो एकदम ऋजु हो, सरल हो, उपदिष्ट वस्तुको ठीक-ठीक ग्रहण कर सके, उसका नाम अर्जुन है।

अर्जुन, केवल 'कृष्ण' शब्दके सम्बोधनसे यह कहते हैं कि तुम मेरे सखा हो और मैं तुम्हारा सखा हूँ। इसलिए मुझे सुनिश्चित रूपसे बताओ कि मेरा कल्याण कर्मानुष्ठानमें है अथवा कर्म-त्यागमें। इसके उत्तरमें भगवान् श्रीकृष्णने जो कहा है उसपर ध्यान दीजिये। यहाँ भगवानुवाचमें जो 'उवाच' है इसका अर्थ भगवान् बोले ऐसा नहीं है। यह भूतकालकी क्रिया तो संवादोंका सम्पादन करनेवालेने दे दी है। पहले इसी तरह अनुवाद होता था कि 'यह भगवान्का वचन है।' क्योंकि भगवान् अब भी बोलते हैं और अर्जुन अब भी पूछते हैं। कोई भगवान्की आवाज सुनना चाहे तो अब भी सुन सकता है। क्योंकि भगवान् सदा-सर्वदा-सर्वत्र विद्यमान हैं और जहाँ भगवान् हैं वहाँ उनकी वाणी

भी है, उनकी कथा भी है और उनकी शान्ति भी है। हमारे हृदयमें भी भगवान् हैं और भगवान्के साथ-साथ उनका आनन्द, उनका वचन भी हमारे हृदयोंमें स्पन्दित हो रहा है। भगवान् बोल रहे हैं, यह जो हमारा ज्ञान है, यह भगवान्का ही ज्ञान है।

सन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते॥
ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात् प्रमुच्यते॥ ३॥

भगवान्ने कहा भाई अर्जुन, निःश्रेयसके साधन तो तुम स्वयं हो। तुम ही निःश्रेयस करनेवाले हो और तुम्हीं निःश्रेयसके कारण हो। वास्तवमें आप चाहे संन्यासको पकड़िये, चाहे कर्मको, दोनोंसे निःश्रेयसकी प्राप्ति होती है। निःश्रेयस ही परमात्माका ऐसा स्वरूप है, जिसके दो हाथ दुनियामें पैदा हुए हैं। आप इसपर विचार करें कि आपको ग्रहण करना चाहिए या त्याग करना चाहिए? किसी एकको ही अपनानेसे आपका जीवन बिल्कुल अधूरा हो जाएगा। यदि आप केवल त्याग-ही-त्याग करेंगे तो मृत्युके निकट पहुँच जाएँगे। इसी प्रकार केवल ग्रहण-ही-ग्रहण करेंगे तब भी मृत्युके निकट पहुँचेंगे। एक ओर कमाते हैं तो दूसरी ओर उसका खर्च भी होता है। एक ओरसे पानी आता है तो दूसरी तरफ जाता है। केवल जाये-जाये तो समाप्त हो जाएगा और केवल आये आये तो भरकर फट जाएगा। कहीं भी ऐसा देखनेमें नहीं आता कि केवल संग्रह तो हो और त्याग नहीं हो। अतः जीवनमें व्यवस्थापूर्वक संग्रह और व्यवस्थापूर्वक त्याग आवश्यक है। यदि कोई कहे कि हमारे घरमें मेहमान आवें-ही-आवें और जाएँ नहीं अथवा सब मेहमान चले जाएँ और कोई दूसरा आवे नहीं तो कैसे काम चलेगा? इसी प्रकार ये जो कर्म

हैं, वे आते हैं और जाते हैं। उनको व्यवस्थापूर्वक ही पकड़ना और छोड़ना पड़ता है। पहले हम सन्ध्या-वन्दन नहीं करते थे। यज्ञोपवीत-संस्कार हुआ और सन्ध्या-वन्दन करने लगे। इसी प्रकार फिर संन्यासके बाद सन्ध्या-वन्दनकी आवश्यकता नहीं रही। मतलब यह कि कायदेसे कर्मोंको ग्रहण करने और छोड़नेसे समाजमें गड़बड़ी नहीं फैलती और उनके बन्धनोंसे छुटकारा मिल जाता है। इसीलिए कर्म और कर्म-संन्यास दोनों निःश्रेयसके साधन हैं। करो और छोड़ो, कमाओ और देते चलो, आने दो और जाने दो इसीमें निःश्रेयस है। यदि कहोगे कि आवे पर जावे नहीं अथवा जायेपर आवे नहीं तो इसमें निःश्रेयस नहीं है। ग्रहण और त्याग दोनों कल्याणके साधन हैं। इनकी एक गिनती होती है। जैसे विज्ञान गणितपर आधारित है वैसे ही दर्शन भी गणित-साध्य है। उसमें कहीं भी, एक भी कड़ी नहीं तोड़ी जा सकती। देखो, हम जो कर्म करते हैं उनमें-से एक निषिद्ध होता है एक विहित। निषिद्ध कर्म वह है जो मना किया हुआ है। गुरुने मना किया, शास्त्रने मना किया, ईश्वरने मना किया अथवा समाजने मना किया। अपनी अन्तरात्माके मना किये हुएको भी निषिद्ध कर्म माना जाता है। मनुस्मृतिमें चार बात बतायी हुई है, उसमें एक है—

स्वस्य च प्रियमात्मनः।

जब कोई मना किये हुए कामको करने लगता है तो क्यों करता है? वासनाके वेगसे करता है। उसको करनेकी इतनी तीव्र वासना होती है कि वह वासनाकी कठपुतली बन जाता है और गुरु, शास्त्र, ईश्वर, समाज, अन्तरात्माके मना करनेपर भी कर्म कर बैठता है। तो शासनानुसारी काम धर्म होता है और वासनानुसारी काम अधर्म हो जाता है। वासनामें कोई रोक

नहीं और शासनमें नियन्त्रण है। धर्म वही होता है जहाँ नियन्त्रण होता है—**धरति इति धर्मः** अथवा **ध्रियते इति धर्मः**। धर्म उसको कहते हैं, जिसे हम धारण करें या जो हमको धारण करे। हम धर्मकी रक्षा करते हैं तो धर्म हमारी रक्षा करता है—**धर्मो रक्षति रक्षितः**।

तो, कर्मका पहला विभाग यह है कि हम आज्ञाके अनुसार चलते हैं या वासनाके अनुसार, इसपर दृष्टि रखें। आज्ञाके अनुसार कार्य करनेपर भी दो भेद हो जाते हैं—एक सकाम और दूसरा निष्काम। कामनाके भी दो भेद होते हैं—लौकिक कामना और पारलौकिक कामना। निष्कामता भी तत्पदार्थको प्रसन्नताके लिए, ईश्वरको प्रसन्नताके लिए अथवा अन्तःकरणकी निर्मलता और प्रसन्नताके लिए। वास्तवमें दोनों दो चीज नहीं हैं। ईश्वर हमारे अन्तःकरणमें ही रहता है। यदि अन्तःकरणमें ईश्वर न हो तो और कहाँ मिलेगा? मिलेगा भी हमारे दिलमें ही और रहता भी है हमारे दिलमें ही। ईश्वर यदि यहाँ नहीं है तो कहीं भी नहीं है। और यदि अभी नहीं है तो कभी भी नहीं है। आप जानते हैं वैदिक धर्मकी महिमा। उसके अनुसार ईश्वर यदि यहीं नहीं है तो कुछ भी नहीं है। सर्वोपादान है ईश्वर। यह बात दूसरे मजहबोंमें नहीं है। उपादान, मैटर या मसाला—जिससे यह दुनिया बनती है। घड़ेमें मिट्टी है। उसकी शक्ल देखिये, मिट्टी नहीं मालूम पड़ेगी। पर यदि तत्त्वकी दृष्टिसे देखेंगे तो वह मिट्टी ही है। अतः एक बात तो यह हुई कि परमात्माके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है।

दूसरी बात आप यह देखना कि बुद्धिकी प्रधानता और किसी मजहबमें नहीं मानी। यह तो हमारी गीताको ही विशेषता है जो बुद्धिको इतना महत्त्व देती है—**बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव।, ददामि बुद्धियोगं तम्।**

बुद्धियोगसे ईश्वर मिलता है और ईश्वर प्रसन्न होकर बुद्धि देता है। तात्पर्य यह हुआ कि ईश्वर द्वारा प्रदत्त बुद्धियोगसे पाप-पुण्य छूटते हैं, सुख-दुःख मिटते हैं और समाधि मिलती है। हमें सब कुछ मिल जाता है यदि हमारी बुद्धि ठीक हो जाये। मजहबका नाम लेते ही आप सोचते होंगे कि श्रद्धाकी कोई बात होगी। लेकिन गीता सारे मजहबोंसे विलक्षण सन्देश लेकर आयी है कि बुद्धियोगसे आपको सब मिलेगा। जिस गीताकी हम चर्चा करने जा रहे हैं, यह भगवान् श्रीकृष्णके जीवनकी पोथी है। अन्यथा वे उपनिषद्के नामपर यही बोलते कि अपौरुषेय ज्ञान ऐसा बोलता है, वैसा बोलता है। पौरुषेय ज्ञान और अपौरुषेय ज्ञानमें यही भेद होता है। एक ऐसा ज्ञान है जो दुनियाके अनुभवोंमें-से बीन-बीनकर इकट्ठा नहीं किया जाता, वह तो स्वयंप्रकाश है। वह ज्ञान अहंको ज्ञाता नहीं बनाता और इदंको ज्ञेय नहीं बनाता। नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त ज्ञान है। पुरुषके प्रयत्नसे या अनुभवसे वंचित नहीं है। वह परमात्माका स्वरूप है। एक ज्ञान वह होता है, जो दुनियामें देख-देखकर कि यह कड़वा है, यह मीठा , यह नीला है, यह पीला है, अनुभूतिके आधारपर संचित किया जाता है। किन्तु गीताका ज्ञान अपौरुषेय है उसको सृष्टिमें किसी भी दूसरे मजहबने न जाना है, न उसका प्रतिपादन किया है और न उस शाश्वत वस्तुको दृष्टिमें रखकर धर्मका निरूपण किया है।

तो यह जो बुद्धि है वह श्रीकृष्णकी है। आपको पिछली बार शायद सुनाया था कि जो जेलमें-बन्धनमें पड़ा है, उसका घरमें नहीं, जेलखानेमें (श्रीकृष्णका) जन्म होता है। माँ-बापको छोड़कर गोकुलमें जाना पड़ता है। पीनेके लिए जहर मिलता है। चारों ओर आपत्ति-विपत्ति दिखायी पड़ती है। शैशवावस्थामें शरीरपर पेड़ गिर पड़ता है। जरासन्ध किलेपर, महलपर हमला कर देता

है। कालयवनके सामनेसे भागना पड़ता है। रास्तेमें भीख माँगकर खाना पड़ता है। नंगे पाँव दौड़ना पड़ता है। प्रवर्षण-पर्वतपर दावानलसे घिर जाते हैं। पत्नी सत्यभामाके पिता सत्राजितके घरपर डाका पड़ा और ससुर साहब मारे गये। द्वारिकापर हमला हुआ हवाई जहाजका। बुआ, फुफेरे भाई आदि कितनी तकलीफमें हैं। घरेलू, वातावरणका यह हाल कि सगे भाई बलरामजी भी विश्वास नहीं करते। दोनोंमें मतभेद हो गया। वैमनस्य तक हो गया। बाल-बच्चे भी कहना नहीं मानते, एक भी बेटा कहना नहीं मानता। श्रीकृष्ण वर्जित करते हैं कि ऐसा खाना मत खाओ, ऐसा मत पीओ, ऐसा मत रहो, परन्तु कोई श्रीकृष्णकी बात नहीं मानता। उनके बेटोंने महात्माओंका तिरस्कार किया, शराब पी, मांस खाया, आपसमें लड़े और श्रीकृष्णको अपने हाथों उनका वध करना पड़ा। भागवतमें साफ है कि श्रीकृष्णने अपने उच्छृङ्खल और पापाचारी पुत्रोंको मारा और जब श्रीकृष्णके पाँवमें बाण लगा तब वे अपनी लीला संवरण करके गोलोक चले गये। तात्पर्य यह कि जीवनमें इतने दुःखद और भयावह प्रसंग उपस्थित हुए, परन्तु वे विचलित नहीं हुए, उनकी मुस्कान बराबर बनी रही। तो उनके मुँहसे निकली है यह गीता।

जब श्रीकृष्ण यह कहते हैं कि **दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः** तब वे अपने अनुभवोंकी ही बात कहते हैं। इसी प्रकार उन्होंने संन्यासीकी जो परिभाषा दी है, वह उनके स्वयंके संन्यस्त जीवनकी ही परिभाषा है—

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।

श्रीकृष्णने कहा मनुष्यको नित्य संन्यासी होकर रहना चाहिए, अनित्य संन्यासी नहीं। एक अनित्य संन्यासी भी होता है। जो बनता है, वह बिगड़ता भी है किन्तु जो आत्मदृष्टिसे संन्यासी है

वह नित्य संन्यासी है। उसमें न द्वेष है और न आकांक्षा है। यही श्रीकृष्णका जीवन है, यही श्रीकृष्णका नित्य सन्यास है। यदि हमें नित्य संन्यासीकी तलाश हो तो श्रीकृष्णके ही जीवनका दर्शन करना चाहिए। छूट गया गोपियों और ग्वालोंके साथका क्रीड़ा-केन्द्र व्रजमण्डल, छूट गयी सोलह हजार पत्नियोंवाली द्वारिकापुरी, किन्तु **सुखेषु विगतस्पृहः** के मूर्तिमान विग्रह श्रीकृष्ण-पर उसका कोई असर नहीं पड़ा। उनका चेहरा मुस्कुराता ही रहा। उपदेश वही उपदेश हो सकता है जो उपदेष्टाके जीवनमें-से निकला हो। गीताके उपदेशोंका इतना प्रभाव इसीलिए है कि वह उपदेष्टा श्रीकृष्णके वास्तविक जीवनकी पोथी है। उनकी डायरी है। उनके चरित्रका निरूपण है। हम आपको श्रीमद्भागवत और महाभारतमें वर्णित श्रीकृष्णके एक-एक चरित्रके सम्बन्धमें यह बता सकते हैं कि गीतामें उनकी ओर कहाँ संकेत किया गया है। ऐसी है श्रीमती गीता और ऐसे हैं उसके वक्ता श्रीमान् श्रीकृष्ण। दोनोंकी शोभा अखण्ड है।

प्रवचन–२

महाभारतका कहना है—**तत्त्वमेकं द्विधा स्थितं** एक ही सत्य वस्तु दो रूप धारण करके दिख रही है। वही कृष्ण है, वही राधा है। वही नर है, वही नारायण है। नर अर्जुन है, नारायण श्रीकृष्ण। वही शिष्य, वही गुरु। गुरु वही सच्चा गुरु होता है, जो अपनेको शिक्षा दे। जो अपनेको शिष्य बना ले वही सच्चा गुरु। जो दूसरोंको चेला बनावे वह सच्चा गुरु नहीं।

अर्जुन श्रीकृष्णके ही स्वरूप हैं। श्रीकृष्णका अर्जुनको शिक्षा देना अपने आपको ही शिक्षा देना है। श्रीकृष्णने अर्जुनसे स्वयं कहा है—

यस्त्वां द्वेष्टि स मां द्वेष्टि, यस्त्वामनु स मामनु।

जो तुमसे द्वेष करता है वह मुझसे द्वेष करता है और जो तुम्हारे पीछे चलता है वह मेरे पीछे चलता है। भक्त और भगवान्‌का, जीव और शिवका ऐसा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है।

आपको सुनाया था कि श्रीकृष्ण परस्परविरुद्ध धर्माश्रय हैं। ऐश्वर्य है तो इतना कि चाहे गोवर्द्धन उठा लें या ब्रह्माण्डको तौल लें और अनैश्वर्य है तो इतना कि चाहे नन्दबाबाकी खड़ाऊँ भी न उठे, यशोदा मैयाका माँगा हुआ पाटा भी न ला सकें। (पट्टा) पाटा उठानेके लिए दोनों हाथ लगाते, नहीं उठता तो लेट जाते, छातीसे लगाते, फिर धीरे-धीरे उठकर खड़े होते, मुखारविन्द लाल हो जाता। बलवान् भी हैं, निर्बल भी हैं। यही परमात्माका

स्वरूप होता है। भक्तिमें केवल बलवान रूपका आश्रय लिया जाता है। क्योंकि भक्तके लिए वही हितकारी होता है। तत्त्वज्ञान या प्रेममें बलवानकी अपेक्षा नहीं होती। बलवान है, निर्बल है, कैसा भी है, हमारा है। प्रेम केवल एक गुण देखकर भगवान्‌से नहीं जुड़ता।

श्रीकृष्ण धर्मात्मा हैं। प्रातःकाल उठकर ब्रह्मस्वरूपका ध्यान करते हैं। स्नान करते हैं, हवन करते हैं, दान करते हैं। जैसे प्रतिदिन आयका साधन करते हैं, वैसे ही प्रतिदिन वितरणका भी साधन करते हैं। श्रम करते हैं, विश्राम करते हैं। परन्तु उनके जीवनमें कहीं-कहीं ऐसा भी देखनेमें आयेगा, जहाँ धर्म न मालूम पड़े। केवल जीव ही धर्मसे आबद्ध अथवा अधर्मसे आक्रान्त होता है। परमेश्वरका स्वभाव यह है कि वह न धर्मसे बँधा हुआ है, न अधर्मसे। धर्म, अधर्म दोनोंसे परे हैं। श्रीकृष्णमें यश भी है, अपयश भी है। जीवको केवल यशस्वी होना चाहिए। उसके जीवनमें अपयश आयेगा तो उसको दुःख होगा। परन्तु श्रीकृष्ण वाणीसे अतीत हैं, अनिर्वचनीय हैं। यश-अपयशका वर्णन वाणीसे होता है और श्रीकृष्ण वाणीसे अतीत हैं। कोई कहे कि चोर हैं तो कहते हैं हाँ चोर हूँ। कोई कहे कि जार हैं तो जवाब देते हैं हाँ जार हूँ। नहीं बोलना या इन्कार करना तो आता ही नहीं। किसीने कहा कि मिट्टी खायी तो बोले हाँ खायी। फिर कहा कि मिट्टी नहीं खायी तो बोले कि नहीं खायी। एक बार तो श्रीकृष्ण-पर मणिकी चोरी लगा दी गयी। बलरामजीने कह दिया कि इसने हमसे मणि छिपा ली है। यह सब जीवके लिए तो कलंक है, किन्तु भगवान् श्रीकृष्णके जीवनकी लीलाएँ हैं, जिनका श्रवण और स्मरण-मनन करके भक्तगण आनन्दित होते हैं। भगवान् भगवान् ही हैं। लक्ष्मी आती हैं, सोनेकी द्वारिकाका निर्माण होता है।

किन्तु उसके पहले मथुरासे भागते हैं तो गाँव-गाँव ऋषियोंके आश्रमोंमें माँग-माँगकर खाते-पीते हैं। नंगे पाँव हैं, नंगे सिर हैं, बदनपर धोतीके सिवाय कोई वस्त्र नहीं है। महीनोंतक दिन-रात ऐसे ही भटकते रहते हैं। यह महाभारतमें स्पष्ट वर्णित है। ज्ञान है तो ऐसा कि उसका वर्णन करके हजारों लोग आज भी अपनी जीविका चलाते हैं और लाखों श्रोताओंके जीवनका निर्माण होता है। श्रीकृष्ण स्वयं कभी-कभी ऐसे भोले बन जाते हैं मानो कुछ समझते ही न हों। एक दिन वे एकान्तमें उदास बैठे थे, मुँह लटका हुआ था। ऐसा भी जीवनमें आता है। आप इस कसौटीपर किसी महात्माको कभी न कसें कि उसका मुँह नहीं लटकता या उसकी आँखोंमें आँसू नहीं आते या उसके जीवनमें कोई कठिनाई नहीं आती। महाभारतकी कथा है; यह कि जिस समय श्रीकृष्ण अनमने बैठे थे, नारदजी आ गये। श्रीकृष्णने उठकर उनका स्वागत-सत्कार किया। नारदजीके पूछनेपर कि चिन्ता क्या है ? उन्होंने बताया कि यदुवंशियोंमें दो पार्टी बन गयी है। कृतवर्मा-अक्रूरकी एक है और सात्यकिकी एक है। हमारे भाई बलरामजी भी उसी पक्षमें हैं। उद्धवजीकी भी एक पार्टी हो गयी है। अब हम क्या करें, यही चिन्ता है। नारदजीने कहा कि चुप रहिये, तटस्थ बन जाइये। श्रीकृष्णने वैसा ही किया। एक दिन रुक्मिणी और बलरामजीमें विवाद हो गया। यह कथा भागवतमें है। रुक्मिणीने कहा कि हमारे भाईको बलरामजीने क्यों मारा ? बलरामजीने कहा कि हमने बिल्कुल ठीक मारा। अब श्रीकृष्ण क्या करें ? पत्नीका पक्ष लें कि भाईका ? चुप हो गये—**किंचिन्नोवाच**—कुछ नहीं बोले। ऐसे अवसरोंपर मौन हो जाना ही श्रेयस्कर है।

अब श्रीकृष्णके वैराग्यपर दृष्टि डालिये। इतना वैराग्य है

महाराज कि भक्त लोग भले ही चाहे जितना कहें कि भगवान् श्रीकृष्ण वृन्दावन छोड़कर नहीं जाते—

वृन्दावनं परित्यज्य पादमेकं न गच्छति ।

होगा नित्यवृन्दावन, आन्तर वृन्दावनकी बात भी सत्य होगी। किन्तु यह भी सत्य है कि जिस व्रजभूमिमें वे नाचते-गाते रहे, रास-लीला करते रहे उसे क्षणभरमें छोड़कर चले गये। सोनेकी द्वारिकाको छोड़ दिया, रिश्तेदारों नातेदारोंको छोड़ दिया। श्रीकृष्णके जीवनमें रागकी भी पूर्णता है और वैराग्यकी भी पूर्णता है। उनका जीवन एक सम्पूर्ण जीवन है। उसमें सत्की पूणता है, कर्मयोग है। उनमें चित्की पूर्णता है, सगुण ज्ञान है, निर्गुण ज्ञान है। उनमें आनन्दकी पूर्णता है—समाधिका भी आनन्द है, विक्षेपका भी आनन्द है, भोगका भी आनन्द है, योगका भी आनन्द है। श्रीकृष्णका जीवन कहीं भी एकांगी नहीं सर्वांगीण है।

कल रात भागवत कथाके प्रसंगमें भीष्मकी चर्चा चल रही थी। भीष्म मनके प्रतीक हैं और श्रीकृष्ण आत्माके। आध्यात्मिक रूपसे भीष्म मन हैं और श्रीकृष्ण आत्मा। आधिभौतिक रूपमें वे दोनों कृष्णावतार एवं भीष्मपितामह हैं। आधिदैविक रूपमें भीष्म ब्रह्मलोकसे आये हैं और वसु हैं। किन्तु भगवान् श्रीकृष्ण ब्रह्म-लोकसे नहीं आये वे साक्षात् भगवान् हैं—**कृष्णस्तु भगवान् स्वयं।** इस पृष्ठभूमिको सामने रखकर जब आप श्रीकृष्ण तथा भीष्मके चरित्रोंको देखेंगे तो दोनोंका भेद बिल्कुल स्पष्ट हो जायेगा।

इसपर जरा और विचार करें। यदि दशरथजीकी मृत्यु न होती, या मृत्यु हो जानेपर भगवान् श्रीरामचन्द्र वनसे अयोध्या लौट आते तो वे धर्मनिष्ठ हैं, पिताकी आज्ञाका पालन करते हैं—यह बात जाहिर नहीं होती। श्रीरामचन्द्र जीको महिमा भी

इसीमें है कि उनका जीवन पीड़ामें-से ही गुजरा। कभी-कभी दैनिक व्यवहारकी वस्तुओंसे बड़ी-बड़ी बातोंका बोध हो जाता है। एक श्लोक देखिये—

रे दन्तावन संप्रविश्य विवरं निःशंकमंगीकुरु
पीडां तैर्विहितां मनाग्घतमना मा भूः सहस्वापदः।
लोके शोधनबोधनप्रणयिनः के के न कां कां दशां
कष्टामापुरहो रहोगतमिदं पीडोद्भवाः सिद्धयः॥

हम दातुनसे दाँत साफ करते हैं। पहले उसकी कूँची बनानी पड़ती है। वही दाँत, जिनको वह साफ करना चाहती है उसको कुचल देते हैं। वह पोड़ा सहती है तब दाँत साफ होते हैं। तो दुनियामें यदि कोई शोधन-बोधन करना चाहता है, यह चाहता है कि उसको आत्मशुद्धि हो जाये और वह दूसरोंका चरित्र पवित्र कर दे तो दातुनकी जो दशा दाँतों तले होती है वही दशा दुनिया-दार लोग उसकी करते हैं। वही उसकी परीक्षा होती है और उस कष्टसहनमें यदि वह पीछे न हटे, तभो अपने उद्देश्यमें सफल होता है।

यह एकान्त सत्य है कि जो पीड़ा नहीं सहेगा, जिसको दर्द नहीं होगा, उसको कोई सिद्धि नहीं मिलेगी। सिद्धियाँ दुःखमें-से गुजरनेपर ही मिलतो हैं। तो देखना अब यह है कि आप भीष्मके अनुसार चलते हैं या श्रीकृष्णके अनुसार आचरण करते हैं। मनकी तो यह दशा है—

अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः।

भीष्म चाहते तो यह हैं कि युधिष्ठिरकी विजय हो, किन्तु बाण चलाते हैं दुर्योधनके पक्षसे। यही है संसारकी विवशता। भीष्मकी अन्तरात्मा धर्मके—युधिष्ठिरके पक्षमें है क्योंकि मन सत्त्व

है और धर्म भी सत्त्व है। इसलिए सत्त्वका सत्त्वके प्रति पक्षपात है। परन्तु बाहरी दोष–अन्नदोष, सङ्गदोष आदि ऐसे हैं जो मनको अन्तरात्माके विरुद्ध अपने पक्षमें कर लेते हैं। कामासक्ति बुद्धिको मलिन और भ्रमित कर देती है। हमारी बुद्धि सत्य तो समझती है। **वस्तुपक्षपातो हि धियां स्वभावः**–बुद्धिका स्वभाव है कि वह भीतरसे हमेशा सचका पक्ष लेती है। परन्तु जब हम दुनियामें किसी वस्तु व्यक्ति या स्थितिके साथ बँधे होते हैं और चाहते हैं कि वह हमें प्राप्त हो तो अपनी समझका अनादर कर बैठते हैं। यदि मनचाही चीज इमानदारीसे नहीं मिलती दिखती तो उसे बेइमानीसे पानेकी कोशिश करने लगते हैं। सचसे नहीं तो झूठसे, हकसे नहीं तो चोरीसे प्राप्त करनेका प्रयत्न इसीलिए होने लगता है कि उस वस्तुके प्रति हमारी आसक्ति होती है। हमारी बुद्धिको नष्ट-भ्रष्ट करनेवाली अगर कोई वस्तु है तो वह आसक्ति है। संसारकी वस्तुओंके प्रति व्यक्तियोंके प्रति, स्थितियोंके प्रति, यहाँतक कि अपने शरीरके प्रति जो अत्यन्त आसक्ति है, उसीके कारण बुद्धि भ्रष्ट होती है। बुद्धि ठीक करनेके लिए कामासक्तिका निवारण आवश्यक है।

कल आपको फलासक्तिकी बात सुना रहा था। मनुष्यके मनमें फलके प्रति आसक्ति होती है कि हमको यह मिले, वह मिले। आसक्तिका अर्थ है सट जाना, फलके साथ ऐसा चिपक जाना कि दूसरे कर्तव्य छूट जाएँ। इससे भी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है।

अब तीसरी आसक्ति होती है कर्मासक्ति। यह काम हम पूरा करके ही छोड़ेंगे—इसका नाम है कर्मासक्ति। देखो, काम बढ़िया-से-बढ़िया करो, परन्तु उसको पूरा करना तुम्हारे हाथमें नहीं है। तुम यही संकल्प रक्खो कि एक पीढ़ीमें पूरा नहीं होगा तो

दूसरी पीढ़ीमें पूरा होगा, दूसरीमें नहीं होगा, तीसरीमें होगा। गंगाजीको अगर अंशुमान नहीं ला सकेंगे तो दिलीप लावेंगे, दिलीप नहीं ला सकेंगे तो भगीरथ लावेंगे। तुम अच्छा काम प्रारम्भ कर दो, उसको पूरा करनेका भरपूर प्रयास भी करो। परन्तु उसको पूरा करनेके लिए अपने दूसरे कर्तव्योंकी अवहेलना मत करो। हमको एक महात्माने बताया था कि काम प्रारम्भ करना तो तुम्हारे हाथमें है, तुम्हारे अधीन है। किन्तु उसको पूरा करना परमेश्वरके हाथमें है। कार्य करना तुम्हारे हाथमें है, उसका फल देना परमेश्वरके हाथमें है। इसलिए तुम, जो तुम्हारे हाथमें है उसीका आग्रह रखो। कर्ममें जो यह कर्तापन है कि मैं कर रहा हूँ, वह भी ईश्वरको छोड़ देनेके कारण ही है। नहीं तो ईश्वर यदि प्रेरणा नहीं देता, निर्वाहकी शक्ति नहीं देता तो आप कर्म कैसे करते? इसलिए जिसने प्रेरणा दी है, जो निर्वाह कर रहा है, वही उसका फल भी देगा। अपनेको तो यन्त्रकी तरह कर्म करते जाना चाहिए। सबसे बढ़िया सेवक कौन है? वही है जो हुकुम हो कि करो तो करना प्रारम्भ कर दे और जब हुकुम हो कि बस बन्द करो तो छोड़ दे। यदि वह मना करनेपर भी करने लगता है तो मानना पड़ेगा कि मालिकके लिए नहीं कर रहा, मालिककी आज्ञाके लिए नहीं कर रहा, बल्कि अपनी वासनाकी पूर्तिके लिए कर रहा है। परन्तु कर्मकी व्याख्या यहीं पूरी नहीं होती। इसकी दो कक्षाएँ, दो गणित और हैं।

देखिये फलासक्तिसे काम करना संसार है और कर्मासक्तिसे काम करना परिश्रम है। वैष्णव लोग कहते हैं कि कालक्षेपके लिए कर्म करना चाहिए। मतलब यह है कि भगवान्‌ने हमें जो समय दे रखा है, उसका उपयोग करते हुए, उसको भरते हुए चलना चाहिए। हमारा समय खाली न रहे, हम किसी-न-किसी

कर्म द्वारा ईश्वरकी सेवा करते चलें। पर इसमें तीसरा प्रतिबन्ध यही है अपने कर्तापनका, अपनी कर्तृत्वासक्तिका। लोग कहते हैं मैं यह करता हूँ, मैं वह करता हूँ। अरे भाई, अपने शरीरमें बाल तुम बढ़ते हो? रक्तका संचार तुम करते हो? साँस तुम चलाते हो? देखो अपने शरीरकी ओर, इसीको अध्यात्म बोलते हैं। तुम्हारे मलका अपसरण अपने आप होता है। रक्ताभिसरण अपने-आप होता है, बाल अपने-आप बढ़ते हैं, साँस अपने-आप चलती है। समष्टिमें एक ऐसा तत्त्व है, जो तत्तत् बीजके अनुसार तत्तत् आकृतिके द्वारा, अपनी प्रेरणासे काम ले रहा है। दूसरे शब्दोंमें भगवान् ही सब कुछ कराता है। इसमें तुम्हारे कर्तापनका अभिमान बिल्कुल गलत है। एक बात और है। ये जो पाप-पुण्य लगते हैं, केवल कर्ताको ही लगते हैं। जो अपेक्षा बुद्धिसे काम करता है, उसीको वह काम चिपकता है। अमुक काम करनेसे हमारा यह कष्ट दूर हो जायेगा, अमुक काम करनेसे हमको यह मिल जायेगा—यह अपेक्षाबुद्धि ही संस्कार उत्पन्न करती है। जहाँ हमारे कर्ममें कुछ लेना-देना या करनेका अभिमान नहीं है, वहाँ संस्कार उत्पन्न नहीं होगा। उससे न तो पुनर्जन्म होगा, न नरक मिलेगा, न स्वर्ग मिलेगा और न बादमें वह बात याद आकर चुभेगी। संस्कार इस जीवनमें भी तकलीफ देते हैं। वे बार-बार याद आकर मनमें चुभते हैं। जब हम इस अपेक्षासे काम करते हैं कि यह चीज हट जाये, यह चीज सट जाये, यह चीज मिल जाये—इसीको कर्तृत्वासक्ति बोलते हैं। कर्मका फल यहीं उदय होता है।

इसके अतिरिक्त एक है अकर्तृत्वासक्ति। सांख्यके अनुसार विवेक कर लिया कि हम कुछ नहीं करते—**अकर्मणि च कर्म यः।** बुद्धिमान् पुरुषका काम यह है कि वह चुपचाप बैठनेको भी अपना

काम समझ ले। क्यों हाथ-पाँव बाँधकर बैठे हो ? अकर्मण्यता तो दुःखद है। जो यह कहता है कि हम काम नहीं करेंगे, वह भी दुःखको बुलाता है। जो अभिमान करता है कि मैं काम करता हूँ, वह भी दुःखको बुलाता है और जो काम पूरा करनेके लिए व्याकुल हो जाता है, वह भी दुःखको बुलाता है। जो अपना कर्तव्य समझकर नहीं, अपितु, कोई पदार्थ या पुरस्कार पानेके लिए काम करता है, उसको भी दुःख होता है। अतः फलासक्ति कर्मासक्ति, कर्तृत्वासक्ति और अकर्तृत्वासक्ति—ये चारों दुःखदायी हैं। जब तत्त्वज्ञान हो जाता है, जब परमेश्वरकी रायसे हमारी राय मिल जाती है। जैसे आप कहते हैं—'जो थारी राय सो म्हारी राय' अथवा राजी हैं हम उसीमें जिसमें तेरी रजा है। वैसे ही ईश्वरकी राय हमारी राय हो जाती है। संसारमें दुःखी वही है, जो ईश्वरसे मतभेद रखता है। जिसका ईश्वरसे मतभेद नहीं है. वह दुःखी ही नहीं। आप देखो, कहाँ ईश्वर और कहाँ जीव ? जीवने अपनी अक्ल अलग लगायी और ईश्वरकी अक्लको स्वीकार नहीं किया तो उसे सुख कैसे मिल सकता है ? किन्तु जिसकी बुद्धि ईश्वरकी बुद्धिसे एक हो जाती है, उसके लिए जो कुछ भी होता है, उसमें वह सुखी रहता है, शान्त रहता है।

अब कर्मयोग और संन्यासकी बात लीजिये। वास्तवमें कर्म और सन्यास दोनों बुद्धियोगके ही अंग हैं—**संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।** वही रासबिहारी परमानन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्ण, वही सर्वज्ञ भगवान् श्रीकृष्ण और वही सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीकृष्ण हैं सत्ताकी प्रधानतासे, सर्वज्ञ हैं चेतनताकी प्रधानतासे और रासबिहारी हैं आनन्दकी प्रधानतासे। भीष्म शक्तिशाली भी हैं और ज्ञानी भी हैं, परन्तु आनन्दका जो विकास परमेश्वरमें है, श्रीकृष्णमें है, वह भीष्ममें नहीं है। श्रीकृष्ण स्पष्ट

रूपसे बुद्धिके अन्दर बैठे हुए हैं और बार-बार अपनी ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। कभी कहते हैं कि—**बुद्धौ शरणमन्विच्छ** तुम्हारी बुद्धिमें ही तुम्हारी शरण अर्थात् आश्रय वस्तु छिपी हुई है उसे वहीं ढूँढ़ो। कभी बोलते हैं—**तमेव शरणं गच्छ**—उसकी शरणमें आओ और कभी कहते हैं—**मामेकं शरणं व्रज**—मेरी शरणमें आओ। यहाँ **बुद्धौ**में जो अर्थ है, वही **तमेव**में भी है और वही **मामेकं**में भी है। भगवान् जने-जनेकी शरणमें जानेसे रोककर किसी एकको ही शरणमें जानेको बोलते हैं और वह एक कौन है? वही अपने हृदयमें अन्तर्यामी है। वही सम्पूर्ण विश्वका संचालक **तत्** है और वही श्रीकृष्ण **माम्** है। उसीकी शरणमें आनेके लिए भगवान् बार-बार पुकारते हैं। अब आप देखो कि बुद्धियोग क्या है? भगवान्को बुद्धिवाद पसन्द नहीं। मूढ़ता तो सर्वथा नापसन्द है। क्योंकि मूढ़ तो परमेश्वरके पास पहुँचनेका साधन ही खो बैठता है—

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥

(१६. २०)

अर्जुन, तुम बढ़-बढ़कर बुद्धिकी बात करते हो और रोते भी हो। अक्लमन्द रो नहीं सकता और रोनेवाला अक्लमन्द हो नहीं सकता। यह स्पष्ट है भगवान्के इस कथनमें। भगवान् कहते हैं कि जिनके लिए शोक नहीं करना चाहिए, उनके लिए तो तुम शोक करते हो, छोटी-छोटी बातके लिए रोते हो और बुद्धिसे बड़ी-बड़ी 'भाषसे'—बात करते हो। कैसे प्रज्ञावादी हो? जिनके लिए बिल्कुल नहीं रोना चाहिए, उनके लिए रोते हो? जो तुम्हारे पास आये थे वे गये और जो गये थे वे आ गये। यह दुनिया अपना काम कर रही है। इसमें

बुद्धिमान् भी बनना और दुःख भी समेटना, दोनों एक साथ कैसे बन सकते हैं ? दुःखोंको समेट-समेट कर अपने पास बटोरते जाना तो बुद्धिमानीका लक्षण नहीं है। अस्तु; कोरा बुद्धिवाद भगवान्‌को पसन्द नहीं है। क्योंकि उसमें कामासक्ति है। बड़े-बड़े बुद्धिमान् लोगोंको जहाँ कुछ मिलने लगता है—धन, प्रशंसा, पद अथवा भोग, तो वे अपनी बुद्धिको उसीके पक्षमें डाल देते हैं और भौतिक पदार्थोंके बदले बुद्धिको बेच देते हैं। एक बुद्धि वह होती है, जो संसारसे मिलकर रहती है। यदि बुद्धि संसारकी आसक्तिमें फँस जायेगी तो परमेश्वर पीछे छूट जायेगा और यदि परमेश्वरके साथ जुड़ जायेगी तो संसार पीछे छूट जायेगा। मंगल इसीमें है कि हमें बुद्धियोग प्राप्त हो, हमारी बुद्धि परमेश्वरके साथ जुड़े। उसमें सांसारिक पदार्थोंकी कामना ही बाधा डालती है।

ऐसी स्थितिमें क्या करें ? कल आपको बताया था कि आप किसी भी प्रकारकी उन्नति अथवा अभ्युदय चाहते हैं तो कर्म करना ही पड़ेगा। बिना कर्मके किसी तरहकी उन्नति नहीं हो सकती, न धनकी, न यशकी, न भोगकी। उन्नत होनेका मतलब है ऊपर उठना। आप जहाँ हैं, जहाँ बैठे हैं उससे ऊपर उठना हो तो उसके लिए प्रयास कीजिये, यत्न कीजिये। प्रयास करते-करते उन्नति पूरी हो जायेगी। अभ्युदयमें कर्मका सम्बन्ध सर्वथा सुनिश्चित है। परन्तु निःश्रेयसमें कुछ शंका है। यदि कर्मको निःश्रेयसके साथ जोड़ोगे तो बुद्धियोगकी प्रधानता अनिवार्य होगी। क्योंकि निःश्रेयसका अर्थ है मुक्ति, परमात्माकी प्राप्ति, अविद्याकी निवृत्ति। तात्कालिक सुख नहीं शाश्वत सुख, भिन्न-भिन्न वस्तुओंका ज्ञान नहीं, अद्वितीय वस्तुका ज्ञान, छोटे-छोटे कर्म नहीं, जिस सत्तामें सब कर्म होते हैं उससे एकात्मता, उसका ज्ञान प्राप्त करना। तो निःश्रेयसके लिए कर्मयोगका आश्रय लो या संन्यासयोगका, उसमें बुद्धियोगका होना आवश्यक है।

अब एक बार फिरसे हम आपको गिनती सुनाते हैं। आप काम करते हैं, यह तो मान्य है; पर मना किया हुआ काम करते हैं या आदेशानुसार? यदि मना किया हुआ काम करते हैं तो आपकी वासना आपको वहाँ पहुँचा देगी जहाँ आपकी वासना है और शासनके अनुसार काम करते हैं तो आप बाहर न जाकर अपनी आत्मामें भीतर बैठ जायेंगे। धर्म विभाग कर देता है कि यह करो और वह मत करो। जब हम विहित कर्म करने लगते हैं, अच्छे-अच्छे काम करने लगते हैं, तब यह देखना पड़ता है कि वह सकाम है कि निष्काम है, स्वार्थसे करते हैं कि निःस्वार्थ? जहाँ हम अपनेको किसी लौकिक वस्तुके पास पहुँचाना चाहते हैं, वहाँ हमारा मन जड़ताकी ओर जाता है और जहाँ हम अपने मनको आत्माकी ओर उन्मुख करते हैं, वह चैतन्यकी ओर जाता है। आजकल कई लोग निष्कामताकी चर्चा करते हैं। कहते हैं कि हम तो निष्काम भावसे बेइमानी करते हैं, निष्काम भावसे झूठ बोलते हैं, निष्काम भावसे दूसरेको ठगते हैं, निष्काम भावसे ग्राहककी गाँठ काटते हैं। भाई, इस प्रकारके कर्म निष्काम भावसे तो क्या निकृष्ट सकाम भावसे हो होते हैं। ऐसे लोगोंको पहले सकाम और निष्कामका अर्थ समझना चाहिए। जब हम लोक-परलोकके लिए कुछ वस्तु पाना चाहते हैं और शास्त्रकी गुरुकी, सम्प्रदायकी आज्ञाके अनुसार काम करते हैं, तब उसका नाम 'सकाम कर्म' होता है। निष्काम कर्मका अर्थ होता है निःस्वार्थ कर्म। अन्तःकरणकी शुद्धिके लिए किया हुआ कर्म आध्यात्मिक, होता है। अतः देखनेकी बात यह है कि आप ईश्वरकी प्रसन्नताके लिए काम करते हैं या अपने अन्तःकरणकी पवित्रताके लिए काम करते हैं या समाजमें आपके जो कर्तव्य हैं उन्हें पूरा करनेके लिए काम करते हैं। इस प्रकार तीन विभाग हुए निष्काम कर्मके— पहला सर्वात्मा भगवान्‌की प्रसन्नताके लिए, दूसरा अपने अन्तः-

करणकी निर्मलताके लिए और तीसरा सत्रकी सेवाके लिए। अब यह निष्काम कर्म भी दो तरहसे होता है—एक कर्तापनका अभिमान छोड़कर और दूसरा कर्तापनके अभिमानके साथ। कर्तापनके अभिमानके साथ होगा तो वह हमारी खण्डदृष्टिको, परिच्छिन्नताको काट नहीं सकेगा और यदि वह अकर्तृत्वबुद्धिसे होगा तो आप जानते हो हैं, गीताका तो कहना ही यही है कि आत्मा कर्ता नहीं है। प्रकृति करे तब भी मान लो—**प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।** ईश्वर करे तो भी मान लो—**ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।** और दोनोंसे काम होता हो तो वह भी ठीक है—**अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।** हम यह मानकर आपसे बात कर रहे हैं कि आप गीता पढ़ते हैं। नहीं तो इतने संक्षेपमें बात नहीं करते। तो देखिये—**इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्ते** इन्द्रिय ही इन्द्रिय-विषयोंमें बर्तती हैं। सत्त्व, रज, तम—ये तीन गुण काम करते हैं। प्रकृति काम करती है, ईश्वर काम करता है और मैं कुछ नहीं करता हूँ—यह भी गीताका कहना है—

पश्यञ्शृण्वन् स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन् गच्छन् स्वपञ्श्वसन्।

तो हमने विभाग कर दिया। इन्द्रियाँ इन्द्रियोंके विषयमें बर्तती हैं—एक। गुण गुणोंमें बर्तते हैं—दो। प्रकृतिसे काम होता है—तीन। ईश्वरसे काम होता है—चार। और, मैं अकर्ता हूँ—यह भाव है पाँच। इस प्रकार अपने अकर्तापनका अनुभव होता है। यह अकर्तापन भी दो तरहसे होता है—एक भावमात्र होता है और दूसरा अपने स्वरूपका ज्ञान होनेपर होता है। स्वरूपका ज्ञान भी दो तरहका होता है—एक अपनेको असंग आत्माके रूपमें जान लेना और दूसरे अपनेको ब्रह्मरूपमें जानना। यदि ब्रह्मरूपमें अपनेको जान गये तो कर्म और कर्मफल तथा

कर्तापन और अकर्तापनके लिए जो बैठना है, इन सबसे छुट्टी मिल जाती है। इन विवेचनोंके बाद अब प्रश्न उठता है कि कर्म करें या कर्म छोड़ें? भगवान् श्रीकृष्णका अभिमत बड़ा विलक्षण है—समन्वयात्मक है। संसारी लोगोंका ख्याल है कि आराम हराम है। लेकिन सीधी बात है, आप आरामके बिना काम नहीं कर सकते। यदि आप सोवें नहीं, नींद न लें, विश्राम न करें, कर्मत्याग करके दो-चार-छह घण्टे विश्राम न करें तो काम कैसे करेंगे? मैं आपको कल सुना रहा था, दुनियामें सब कुछ परिवर्तनशील है। यहाँ जो आयेगा वह जायेगा, जो जायेगा वह आयेगा। सोनेकी द्वारिका बनेगी और पानीमें डूब जायेगी। ब्याह होगा और बिछुड़ जायेंगे। बच्चे होंगे और उनके लिए गद्दी खाली करनी पड़ेगी। आप कुछ भी करें, गद्दी पकड़कर बैठे नहीं रह सकते। यह है सृष्टिका नियम। इसमें असंग होकर चलना पड़ेगा। आप फिर देखो और गिनती कर लो। पहले क्या गिनती है? कर्म और कामना दोनोंको एक साथ रख लो। जिसमें दोनों नहीं हैं, न कर्म है, न कामना है; वह तत्त्व हो सकता है—चाहे जड़ तत्त्व हो या चेतन तत्त्व हो। जिसमें कामना और कर्म दोनों नही हैं वह या तो ब्रह्म है या पत्थर। एक विभाग यह हुआ। अच्छा अब यदि कहो कि कामना है, परन्तु कर्म नहीं है तो यह क्या हुआ? मिथ्याचारी हो गया। जो अपनी इच्छाओंकी पूर्ति तो चाहता है, परन्तु उसके लिए कुछ करना नहीं चाहता उसे गीता मिथ्याचारी कहती है—**मिथ्याचारः स उच्यते।** इसमें भी दो तरहकी बातें है—एक तो कामना है मनमें, किन्तु कर्म नहीं कर रहा है और कामनाओंको इमानदारीसे मिटाना चाहता है। दूसरा है, जो कामनाओंको पूरी करना चाहता है, परन्तु काम नहीं करना चाहता, वही मिथ्याचारी है।

अब इसके आगे बढ़ें और देखें कि कर्म तो है, परन्तु कामना

नहीं है। इसको क्या कहेंगे ? निष्काम कर्म कहेंगे। जब हम बिना स्वार्थके सब-का-सब काम करते हैं, तब तत्त्वके बहुत निकट होते हैं। जैसे पृथिवीको देखिये, वह आपको माताके समान अपने कन्धेपर, अपने सिरपर, अपनी गोदमें, आपको रखती है, परन्तु आपसे कुछ चाहती नहीं। यह पृथिवी तत्त्व है। जल तत्त्व आपको तृप्ति देता है, परन्तु आपसे कुछ अपेक्षा नहीं करता। अग्नि तत्त्व ताप देता है, सूर्य प्रकाश देता है, परन्तु आपके पास कोई बिल नहीं भेजता। वायुतत्त्व आपको सांस लेने देता है, लेकिन उसके बदले आपसे कुछ लेता नहीं। आकाश तत्त्व आपको अवकाश देता है। ईश्वर आपको चैतन्य देता है और प्रकृति आपको क्रिया देती है, लेकिन आपको कुछ देना नहीं पड़ता। यही निष्काम कर्मका स्वरूप है। जैसे पृथिवी तत्त्व अपना जीवन व्यतीत करता है, वैसे ही हम सबको क्षमा करें और सबको धारण करें। जल तत्त्वकी तरह सबको तृप्ति दें। क्षमा तो सभी तत्त्वोंमें है। क्षमा उनका अनुगत धर्म है। पृथिवी को चाहे खोदो चाहे फूंको, चाहे उसपर मूत्र या विष्ठा करो, वह सभी अवस्थाओंमें क्षमा करती है। जलमें आप पनाला गिराते हैं तब भी वह क्षमा करता है और आपको तृप्ति देता है। अग्निमें चाहे कुछ भी गन्दी-से-गन्दी चीज भी डाल दो भस्म कर देगा और क्षमापूर्वक आपकी रसोई भी पका देता है। वायु आपको सांस भी देता है और आप चाहे जितनी दुर्गन्ध उसमें उंड़ेल दें आपको क्षमा कर देता है। आका-शमें चाहे जैसे शब्द बोलो, अच्छे-से-अच्छे या बुरे-से-बुरे, सबको पचा लेता है और आपको धारण भी करता है। आप उसमें चाहे जहाँ घूमना चाहो घूमो आकाशको कोई आपत्ति नहीं। इसीको हम तात्त्विक जीवन बोलते हैं। इस तात्त्विक जीवनसे मिलता हुआ जिसका जीवन है—क्षमा करो, सबका भला करो और इसके बदलेमें कुछ तुम मत चाहो—यही ईश्वरका जीवन है,

यही प्रकृतिका जीवन है। यही आकाशका, वायुका, अग्निका, जलका, पृथिवीका सब तत्त्वोंका जीवन है। अतः मनुष्यको अपना जीवन तत्त्ववत्—तत्त्वके समान व्यतीत करना चाहिए।

अब एक तीसरी अवस्था देखो। जहाँ काम और कर्म दोनों नहीं, वहाँ जड़ तत्त्व है या चेतन तत्त्व है? जहाँ कामना है परन्तु कर्म नहीं वहाँ या तो मिथ्याचार है या कामना मिटानेके लिए प्रयत्न है। अब यह देखो कि जिसमें कर्म है और कामना नहीं, वह निष्काम कर्मयोगी साधक है। एक अवस्था ऐसी भी आती है समाधिकी, जहाँ न कामना होती है, न कर्म। बस यही एक प्रश्न रहता है कि तत्त्वज्ञान होकर कामना और कर्म छूटे हैं या बिना तत्त्वज्ञानके ही छूटे हैं। यदि तत्त्वज्ञान हो गया है तो कामना और कर्म होवें, चाहे न होवें, वह तो साक्षात् ब्रह्म है। लाख-लाख कामना होते हुए भी, लाख-लाख कर्म होते हुए भी, लाख-लाख ब्रह्माण्ड बनते-बिगड़ते हुए भी वह ज्यों-का-त्यों है।

अब आप इसका वर्गीकरण कीजिये। अपने कर्तव्यका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए पहले अपनेको स्थापित करना पड़ेगा। देखिये, क्या आप निकम्मे हो गये हैं, आलसी हो गये हैं? नहीं-नहीं, हम निकम्मे नहीं, आलसी नहीं—आलसीको तो कोई सफलता मिल ही नहीं सकती। आलस्य-प्रमादमें जीवनकी कोई सफलता नहीं। तब आप प्रयत्नशील हैं? कायदेसे काम कर रहे हैं कि बेकायदे कर रहे हैं? बेकायदे कर रहे हैं तो आपकी वासना आपको गड्ढेमें डाल सकती है। कायदेसे काम कीजिये। धर्मके, शास्त्रके अनुसार काम कीजिये। यदि कायदेसे भी काम करते हैं और अभिमान बहुत दिखाते हैं तो आपके मुकाबिलेका कोई-न-कोई अभिमान तो दुनियामें होगा ही, वह आकर आपसे टकरायेगा। एक तो संघर्ष रहेगा, द्वन्द्व रहेगा, दूसरे कभी वह आपको नीचा भी दिखा

सकता है। अभिमानको नीचा देखना ही पड़ता है। यह कहा जा चुका है कि दुनियामें जितनी चोट पड़ती है, जितना दुःख होता है, जितना दारिद्रय आता है; वे सब अभिमानको ही आकर दबोचते हैं। जिसके जीवनमें अभिमान शिथिल हो गया, कम हो गया, उसका दुःख भी कम हो गया। समझ लीजिये कि जिसके जीवनमें जितना दुःख है, वह उतना ही बड़ा अभिमानी है।

अब देखो कर्म और कर्मत्यागको। यदि बुद्धिपूर्वक कर्म करते हो और बुद्धिपूर्वक त्याग करते हो, तब तो कर्म भी साधन है और त्याग भी साधन है। यदि बुद्धि नहीं तो कर्म भी बन्धन है और त्याग भी बन्धन है। जैसे एक संन्यासी हैं। उनके विषयमें प्रश्न उठा कि यह संन्यासी कैसे हुए? तो उत्तर मिला कि इससे पहले वायदा किया गया था कि तुम संन्यासी हो जाओगे तो इस बहुत बड़े मठके महन्त बना दिये जाओगे। अब आप ध्यान दो इस बातपर। उन्होंने यज्ञोपवीतका त्याग किया, वस्त्रका त्याग किया, नंगे हुए, संन्यासी हुए और दूसरे-तीसरे दिन उनको एक बड़े मठकी गद्दीपर बैठाकर तिलक कर दिया गया। यदि उन्होंने अपने-आप सब कुछ त्याग-कर संन्यास ले लिया होता और कोई ले जाकर मठकी गद्दी-पर बैठा देता तो वह बात दूसरी होती। जब उन्हें यह वायदा करके संन्यासी बनाया गया कि तुमको महन्त बनावेंगे, तो उनके मनमें कामकी प्रधानता है कि संन्यासकी? निश्चय ही उनका त्याग गौण हो गया और महन्त होनेकी कामना बड़ी हो गयी। जब बुद्धि कामनासे दूषित या कलुषित हो तब त्याग कल्याणकारी त्याग नहीं होता। इसी तरह जब हम कर्म करते हैं और उसका फल दूसरोंको नहीं देना चाहते तो वह श्रेयस्कर नहीं होता। प्रेम और काममें यही अन्तर है। जो काम हम कर

रहे हैं बड़े प्रयत्नसे, बड़े परिश्रमसे, उसका लाभ सबको मिलना चाहिए। हम बड़े-बड़े काम किसके लिए करते हैं? नंगेको पहननेके लिए कपड़ा मिले, भूखेको खानेके लिए अन्न मिले, रोगीको दवा मिले, जिनके पास मकान नहीं उनको मकान मिले। हमारे सब काम इसी दृष्टिसे होने चाहिए। कर्ताकी मनोवृत्ति ही उसके साथ जुड़ती है। जब खुदको फायदा उठानेके लिए काम होता है तब कामनाकी प्रधानता हो जाती है। कामनाकी प्रधानता होनेसे सबका भला हो, इस ढंगसे काम नहीं होता। उसमें तो अपना फायदा हो, वैसे ही काम होता है। काम वही है, वही कपड़ा, वही दवा, वही अन्न, वही वस्त्र, वही विद्यालय, वही धर्मशाला, किन्तु करनेवाला जब अपना फायदा देखता है तब उनका स्वरूप बदल जाता है। जब सबको लाभ पहुँचे, इसके लिए काम करते हैं तो सर्वात्माकी सेवा हो जाती है। परमेश्वरकी सेवा हो जाती है और अपने लाभके लिए करते हैं तो वही स्वार्थ हो जाता है। इस प्रकार दृष्टिकोणके भेदसे कर्म करनेमें लाभ भी है और हानि भी; बुद्धि ठीक होनी चाहिए। कर्मत्याग करनेमें भी वही बात है। कर्मत्यागसे हम समाधिमें स्थित हो सकते हैं, अपना स्वरूप जान सकते हैं और परमात्माको प्राप्त कर सकते हैं। लेकिन यदि स्वार्थदृष्टिसे कर्मत्याग करेंगे तो वह त्याग भी कलुषित हो जायगा। कहनेका अभिप्राय यह कि आप कर्मके द्वारा भी लाभ उठा सकते हैं। अभी भगवान्‌ने संन्यास और कर्मयोगको बराबरीपर स्थापित किया। यदि सामने बड़े-छोटेका झगड़ा हो तो एकाएक विपरीत बात नहीं कह देनी चाहिए। ऐसे नहीं कहना चाहिए कि जिसको तुम छोटा कहते हो वह बड़ा है और जिसको बड़ा कहते हो वह छोटा है। यह बात-चीत करनेका ढंग नहीं। पहले दोनोंकी बराबरीकी बात करनी चाहिए और जब सामनेवालेको ग्रहण हो जाये कि ये दोनों बराबर हैं

तब दोनोंकी तुलनात्मक समीक्षा करके अधिक विशेषता किसमें है यह बात बतानी चाहिए। श्रीकृष्ण बोलनेका ढंग भी तो सिखाते हैं।

संन्यासः कर्मयोगश्च—इनको कर्मयोग बताना है, लेकिन पहले नाम संन्यासका लेते हैं। आदर करना चाहते हैं कर्मयोगका, लेकिन पहले नाम लेते हैं संन्यासका। बादमें चलकर बताते हैं कि कर्मयोग बड़ा है। इस प्रकार संन्यासका भी आदर हो जाता है और कर्मयोगकी विशेषता भी प्रकट हो जाती है—**तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते।** मानो अर्जुनने कहा कि इन दोनोंमें तुलना कीजिये तो बोले संन्यासकी अपेक्षा कर्मयोग विशेष है।

अब आप देखिये। संन्याससे केवल एक वस्तु मिल सकती है और वह है मोक्ष। संन्याससे लौकिक अभ्युदय नहीं हो सकता किन्तु कर्मयोग मोक्षमें तो सहायक है ही, मोक्ष तो देता ही है, साथ-साथ लोक भी देता है। कर्मयोगमें भोग भी है, योग भी है। संन्यासमें योग तो है, परन्तु भोग नहीं। एक साधारण मनुष्यके लिए कर्मयोग ही श्रेष्ठ है, जिससे लोकका भी हित हो, उसका जीवन भी अच्छा बने, उसका मन भी पवित्र हो, उसके कर्म द्वारा परमात्माकी सेवा भी हो और फिर उसका अन्तःकरण शुद्ध होकर तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति भी हो जाये। आखिरी सीढ़ीपर कोई छलांग लगाकर चढ़ भी जाये तो गिर जानेका डर है और एक-एक सीढ़ी करके चढ़े तो गिरनेका डर नहीं। कर्मयोग बुद्धिपूर्वक ही होता है। संन्यासयोग भी बुद्धिपूर्वक ही होता है। यदि बुद्धि नहीं, तो दोनो बिगड़ जाते हैं। इसलिए पहले ज्ञान प्राप्त करो। यदि कहो कि ज्ञान प्राप्त नहीं होता तब श्रद्धा तो कर सकते हो। जो ज्ञानी पुरुष हैं उनके ज्ञानसे श्रद्धापूर्वक लाभ

उठाओ और यदि स्वयं ज्ञान प्राप्त कर सकते हो तो उसके लिए प्रयास करो। श्रीकृष्णने जहाँ संन्यासकी चर्चा की है वहाँ उसका अर्थ बदल दिया है। ऐसे समझो कि दुनियामें जहाँ रजिस्ट्रीसे ब्याह होता है, वहाँ रजिस्ट्रीसे तलाक भी होता है। कानूनसे ब्याह तो हो और तलाक न हो तो वह गलत हो जाता है। जब संस्कार द्वारा यज्ञोपवीत धारण करते हैं, सन्ध्या-वन्दनका नियम लेते हैं और विधिपूर्वक विवाह करते हैं तो उन सबके त्यागके समय भी कोई-न-कोई संस्कार होना चाहिए। जैसे सबको दिखाकर धर्मकी विधिसे ग्रहण होता है, वैसे ही सबको दिखाकर धर्मकी विधिसे त्याग भी होता है। जब समाज स्वीकार करले कि हाँ इनका ब्याह हुआ अथवा इन्होंने तलाक दिया बात साफ ही कायदे-कानूनकी हो जाती है। परन्तु श्रीकृष्ण तो संन्यासकी परिभाषा ही बदल देते हैं। वे कहते हैं—

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।

ऐसी स्थितिमें कर्मयोग विशेष कहाँ हुआ? इसलिए विशेष हुआ कि कर्मयोग अभ्युदय और निःश्रेयस भोग और योग, लोक और परलोक, धर्म-अर्थ-काम और साथ ही मोक्ष सबमें सहायक है। यही इसकी विशेषता है। एक ऐसा व्यक्ति है, जो गेरुआ कपड़ा नहीं पहनता, ज्यों-का-त्यों है। उसके गलेमें जनेऊ भी है, सिरपर चोटी भी है, गृहस्थके रूपमें भी है। परन्तु यदि उसकी बुद्धिमें किसीसे द्वेष नहीं और ऐसी कोई चीज नहीं जिसकी उसको आकांक्षा होती हो या जिसको न पानेसे जलन होती हो, क्या वह किसी संन्यासीसे कम है? सच्चा संन्यासी तो वही है। मनुष्यके भीतर जो हीन भावना है उससे बड़ा नुकसान होता है। हम सोचते हैं कि यह आदमी हमें नुकसान पहुँचा देगा तो उससे अपनेको छोटा समझने लगते हैं, निर्बल समझने लगते हैं, मूर्ख

समझने लगते हैं। यह हमारी हीनभावनाका ही परिणाम है। यदि हम किसी वस्तुके लिए पानी-पानी हो रहे हैं, वहे जा रहे हैं, अपने गौरवके, स्वरूपके विपरीत आचरण करते हैं और यह अनुभव करते हैं कि हाय-हाय इसके बिना हम जी नहीं सकते तो इसका कारण भी हमारी हीन भावना ही है। उस व्यक्तिमें क्या पौरुष है जब यह सोचता है कि हम किसीके बिना जी नहीं सकते अथवा अमुक दुश्मन हमको मार डालेगा। इस प्रकार हीनताकी जो बुद्धि है, वही राग-द्वेष उत्पन्न करती है और पूर्णताकी जो बुद्धि है, वह राग-द्वेषको मिटाती है। वास्तवमें हमें कोई हानि नहीं पहुँचा सकता। हम परमात्माके अंश हैं, स्वरूप हैं, स्वभाव हैं और सब प्रकारसे परिपूर्ण हैं। हमको दुनियामें कुछ भी नहीं चाहिए। हम तो केवल अपने कर्त्तव्योंका पालनमात्र कर रहे हैं। राग-द्वेषकी निवृत्ति संसारके स्वरूपको समझनेसे होती है। इसे समझनेकी पद्धति एक तो यह है कि संसार परिवर्तनशील है। दूसरा यह कि हम असंग हैं। तीसरा यह कि सब कुछ परमात्माका स्वरूप है और चौथा यह कि तत्त्वतः कोई भेद नहीं। इस प्रकार राग-द्वेषकी निवृत्ति चार प्रकारसे होती है। आप इसकी गिनती करलो। संसारको जब यह समझोगे कि यह बदलता रहता है, परिवर्तनशील है तब कहाँ और किससे राग-द्वेष करोगे? जो आज दुश्मन है वह कल दोस्त हो जायेगा और जो आज दोस्त है, वह कल दुश्मन हो जायेगा। अपने स्वरूपको समझोगे तो प्रतीत होगा कि जब तुम आजतक किसीसे राग या द्वेषका निर्वाह करनेमें सफल नहीं हुए, समर्थ नहीं हुए तो आगे भी नहीं हो सकते। परमेश्वरके स्वरूपको समझोगे तो उससे प्रेम होते ही दुनियामें किसीसे राग-द्वेष करनेका कोई मौका ही नहीं मिलेगा और यदि अपने आपको ब्रह्मरूपसे, तत्त्वरूपसे जान जाओगे तो न कोई दूसरा रहेगा और न राग-द्वेषका अस्तित्व रहेगा। इस

प्रकार राग-द्वेषकी निवृत्तिके लिए ये चार उपाय गिने हुए मुख्य उपाय हैं, अन्य सब उपाय इनके अवान्तर भेद हैं।

भगवान् नित्य-संन्यासी होनेकी जो बात कहते हैं उसका तात्पर्य यही है कि जो निर्द्वन्द्व है, वही संन्यासी है। **द्वौ-द्वौ इति द्वन्द्वम्**—सुख है-दुःख है; राग है-द्वेष है; पाप है-पुण्य है; पति है-पत्नी है; बाप है-बेटा है; इन सबका नाम द्वन्द्व है। निर्द्वन्द्वका अर्थ है बिल्कुल अकेला—निपट अकेला। जो गृहस्थमें रहता हुआ, संसारी काम करता हुआ भी दूसरेकी अपेक्षासे मुक्त होकर रह रहा है, वह निर्द्वन्द्व है, नित्य संन्यासी है।

प्रवचन–३

गीता चाहती है कि विवेक और कर्म इन दोनोंका समन्वय बना रहे। विवेक निकम्मा न हो जाये। सीधी-सादी बात है, विवेकहीन कर्म लोक-परलोक-सुख सबको बिगाड़ता है और कर्म-हीन विवेक मनुष्यको अकर्मण्य बना देता है। अतः कर्म और विवेक दोनों साथ मिलकर चलें, यही भगवान् अर्जुनसे कहना चाहते हैं। इसको उन्होंने बुद्धियोग शब्दसे व्यवहृत किया है। इसमें जो योग है, उसका अर्थ है कर्मयोग और जो बुद्धि है, उसका तात्पर्य है सांख्ययोग। सांख्य और योग अर्थात् कर्म और बुद्धि—कर्म और विवेक—इन दोनोंका मिश्रण। विवेकमें बाधा कौन डालता है? कामासक्ति। जब हम किसी वस्तुके प्रति आसक्त हो जाते हैं और इस प्रकारका आचरण करने लगते हैं कि चाहे जो हो जाये हमें तो यही करना है तब जिन्दगीमें जिद आ जाती है। संस्कृतमें जिदको दुराग्रह बोलते हैं और जब मनुष्य उससे ग्रस्त हो जाता है तब उसे 'दुराग्रह-ग्रह-गृहीत' कहते हैं। जब वह विवेकका तिरस्कार करके कोई काम करना चाहता है तब वह अहितकर कर्म कर बैठता है। केवल निःश्रेयसकी प्राप्तिके लिए तो कर्महीन विवेक भी काम देता है, किन्तु कर्म उपयोगी है। कर्म कैसे उपयोगी है? इसके सम्बन्धमें हम थोड़ी बात आपको सुनाते हैं।

यदि ब्याहका प्रसंग हो तो लड़कीको लड़केके बारेमें और लड़केको लड़कीके बारेमें जानकारी प्राप्त करनी चाहिए। क्योंकि

वहाँ संग्रह होना है, दोनोंको मिलकर रहना है। इसको 'सविषयक ज्ञान' बोलते हैं। दूसरेके सम्बन्धमें यदि कुछ लेना हो, देना हो, छोड़ना हो, पकड़ना हो तो ज्ञान प्राप्त करनेके बाद ही ऐसा हो सकता है। करना-त्यागना ज्ञानका स्वभाव है यदि आप दूसरी वस्तुको जानोगे, तभी उसके अच्छी होनेपर उससे प्रेम करोगे और उसके बुरी होनेपर उसको छोड़ दोगे। परन्तु अपने स्वयंके बारेमें जो ज्ञान होता है उसमें न छोड़ना पड़ता है और न पकड़ना, क्योंकि वह तो स्वतः सिद्ध है। छोड़नेवाला भी वही, पकड़नेवाला भी वही। किसीने पूछा कि अपने-आपको जानकर क्या करोगे तो बोले कि यदि जाना कि मैं बहुत बुरा हूँ तो आत्महत्या कर लूँगा। उत्तर मिला कि आत्महत्या करके भी तुम नहीं मरोगे। मनुष्यका शरीर जहाँ पूरा होता है वहींसे प्रारम्भ होता है। यदि वह निर्वासन नहीं, निष्काम नहीं, तत्त्व-ज्ञानी नहीं, तो उसका जीवन जहाँ समाप्त होता है, वहींसे दूसरा प्रारम्भ हो जाता है। वही परिस्थिति, वही दृश्य, वही दुःख, वही सुख। उनसे मरकर भी बच नहीं सकते। आत्मज्ञानके अतिरिक्त दूसरे जितने ज्ञान हैं वे त्याग और संग्रहके लिए होते हैं। श्री सुरेश्वराचार्यजीने इस बातका वर्णन बहुत स्पष्ट किया है—

सर्वत्रैव हि विज्ञानं संस्कारत्वेन गम्यते।
पराङ्गं चात्मविज्ञानादन्यत्रेत्यवधार्यताम्॥

आप इस बातको ध्यानमें रख लो, नोट करलो, अपने निश्चयमें ले लो कि संसारमें आत्मविज्ञानके अतिरिक्त जितने भी विज्ञान होते हैं, वे पूर्वसंस्कारसे अनुप्राणित होते हैं, आगेके लिए नये संस्कार उत्पन्न करनेवाले होते हैं और कर्मके अंग होते हैं। यह बात मैं जान-बूझकर सुना रहा हूँ कि सभी ज्ञान बराबर नहीं होते। ईश्वरका ज्ञान प्राप्त करोगे तो उसके प्रति आपके

हृदयमें नम्रता आयेगी, झुकोगे और मनुष्यके प्रति भाईचारेकी भावनाका उदय होगा। अपने आत्माके स्वरूपको समझोगे तो संग्रह और त्यागसे विनिर्मुक्त निर्द्वन्द्वता मिलेगी।

बुद्धियोगमें दोनों रहते हैं—विवेक भी और कर्म भी। पहले बताया जा चुका है कि कर्मको योग और विवेकको सांख्य कहते हैं। सांख्य अर्थात् गणना करना। संख्या शब्दसे ही सांख्य शब्द बनता है। प्रकृतिमें चौबीस भेद हैं—पाँच भूत हैं, पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं, पाँच विषय हैं, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं और चार अन्तःकरण हैं। इस तरह गिनती करके वस्तुओंका निश्चय करना सांख्यकी पद्धति है। जो तत्त्वोंका परिगणन कर दे, संख्यान कर दे, उसका नाम सांख्य होता है। संख्या सम्यक् ख्यातिको कहते हैं। किसी वस्तुको एक, दो, तीन, चार आदिके रूपमें भली-भाँति जाहिर करनेका नाम संख्या है। अब आप देखो जब कर्म करने चलते हैं तो उसमें विवेक है कि नहीं, यह पहला प्रश्न हुआ। यदि है तो विवेकपूर्वक कर्म करनेकी प्रेरणा आपको कहाँसे मिल रही है? कामकी ओरसे कि रामकी ओरसे? आप जहाँ काम करने जा रहे हैं वहाँ आपको आपकी वासना ले जा रही है, आपका स्वार्थ ले जा रहा है या उसके लिए शुद्ध निर्वासन चित्तमें ईश्वरकी प्रेरणा आयी है? यह विवेक बुद्धिमान् लोगोंको होता है, नहीं तो जो मनमें आया वही करने लगते हैं। इसके बाद कर्मके स्वरूपपर भी ध्यान देना चाहिए। उसमें हिंसा तो नहीं, मनसे, वाणीसे, कर्मसे किसीको तकलीफ तो नहीं पहुँचेगी। जब हम दूसरोंको दुःख, ताप या तकलीफ पहुँचाकर कोई कर्म करते हैं तो सबसे पहले उनका प्रभाव हमपर ही पड़ता है। आप यदि गम्भीरतासे, सूक्ष्म दृष्टिसे देखेंगे तब मालूम पड़ेगा कि दुःख बाहरसे नहीं आता। यदि कोई पीठपर घूँसा लगादे अथवा सिरपर डण्डा मार दे तो

पीठ या सिरको तकलीफ नहीं होती, तकलीफ मनको होती है। चाहे किसी भी अंगको चोट पहुँचे, तकलीफ मनमें पहुँचेगी। मनोभूमि मिट्टी, पानी, आग, हवा और आकाशसे भी सूक्ष्म होती है। जब बोला हुआ शब्द जैसा स्थूल पदार्थ सारी सृष्टिमें फैल जाता है—ब्राडकास्ट होता है अमरीका, चीन, रूस अथवा अन्य किसी सुदूर देशमें और तत्काल सुनायी पड़ता है सर्वत्र। तो जो दुःख-सुखरूपी मनोभाव हैं वे एक जगह पैदा होकर एक जगह ही रह जायेंगे, यह सोचना गलत है। शब्दके विस्तारकी तरह सुख-दुःखका भी विस्तार हो जाता है।

अतः यदि आपके कर्मसे किसीको दुःख पहुँच रहा है तो वह दुःख विश्वसृष्टिमें फैलेगा और एक, दो, तीन दिन अथवा वर्ष-दो-वर्षमें आपके पास भी पहुँचेगा। आपके अन्तःकरणमें बैठा ईश्वर भी उस दुःखसे अछूता नहीं रहेगा। अतः ऐसा काम करना चाहिए जिससे किसीको दुःख न पहुँचे। किसी एक आदमी-को भी दुःख पहुँचाना ईश्वरको, सर्वात्माको, प्राणिमात्रको और स्वयं अपने-आपको भी दुःख देनेका प्रयास है। जैसे कोई चीज अपनेसे बाँधकर फेंकते हैं तो वह लौटकर फिर अपने पास आ जाती है, वैसे ही जब हम दूसरेको देनेके लिए दुःख फेंकते हैं तो वह हमारे पास लौटकर आ जाता है और कहता है कि तुम्हींने तो हमारा विस्तार किया है, इसलिए अब हम तुमको ही लगेंगे। इसलिए दूसरोंको दुःख देनेवाला व्यक्ति उस दुःखसे बच नहीं सकता। जैसे धनका दान करनेवाला, इस लोक और परलोकमें धनका भाजन होता है, वैसे ही दुःख देनेवाला भी इस लोक और परलोकमें दुःखका पात्र बनता है। कारणमें ही कार्यका लय होता है—यह दर्शन-शास्त्रका सिद्धान्त है। दुःख अपने भोक्ताके पास हमेशा नहीं रहता उसके पास तो थोड़ी देर रहता है, परन्तु

जो उसका दाता या कर्ता है, उसके पास लौटकर चिपक जाता है। तो कर्म-विवेकमें, सांख्यज्ञानमें आवश्यक है यह जानना कि प्रेरणा ईश्वरकी है या वासनाकी, रामकी है या कामकी ? जो कर्म हम करने जा रहे हैं वह हिंसात्मक तो नहीं ? एक तीसरी बात कर्ममें सोचनेकी, विचार करनेकी यह है कि जो काम हम कर रहे हैं उसका प्रयोजन क्या है ? प्रयोजन शब्दका तात्पर्य है यह जानना कि उस कर्मका फल कहाँ जुड़ता है—

अवगतं सत् आत्मनि इष्यते ।

जब प्रयोजनका ज्ञान होता है तब वह अपने-आपमें ही आकर जुड़ जाता है। प्रयोजन अर्थात् योजना करनेवाला, फलको हमारे साथ जोड़नेवाला पदार्थ। तो हम किस प्रयोजनसे काम करते हैं यह विवेक होना आवश्यक है—

प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते ।

निष्प्रयोजन काममें, जिससे किसी प्रयोजनकी सिद्धि न होती हो उस काममें, अपनी शक्तिका अपव्यय नहीं करना चाहिए। पहले तो वह काम रामकी प्रेरणासे, निर्वासनताकी प्रेरणासे आया हुआ हो; स्वरूपसे हिंसायुक्त न हो और उससे किस प्रयोजनकी सिद्धि होती है, यह पता हो तब उसमें प्रवृत्त होना चाहिए। निष्काम-निष्कामकी रट लगानेवाले कभी-कभी गड़बड़ी करते हैं। वे समझते हैं कि हम जुबानसे निष्काम-निष्काम कहते रहेंगे तो एक दिन वह निष्काम हो जायेगा। लेकिन जबानी जमा-खर्च करनेसे कोई कहे कि हम निष्काम भावसे किसीको ठगते हैं, झूठ बोलते हैं, बेइमानी छल और कपट करते हैं तो क्या कभी यह शक्य है ? आप यह कह सकते हैं कि हम अपनी कामनाको धर्मके अविरुद्ध बनानेका प्रयास करते हैं। धर्मानुकूल कामना हो, इसको चेष्टा करते हैं, क्योंकि धर्मके

विपरीत कामना नहीं होनी चाहिए। तो व्यर्थ कर्मका नाम निष्कामकर्म नहीं, सप्रयोजन कर्मका नाम निष्काम कर्म है। कर्मके साथ लक्ष्य होना आवश्यक है। लक्ष्य और स्वार्थमें अन्तर है, स्वार्थ दूसरी चीज है और लक्ष्य दूसरी।

कर्मका लक्ष्य भी तीन ओर जाता है। हमारा कर्म अपने सुखके लिए, अपनी शान्तिके लिए अर्थात् अन्तःकरणकी शुद्धिके लिए होता है। यदि अन्तःकरण निर्मल होगा, शुद्ध होगा तो हमें सुख-शान्तिकी प्राप्ति होगी। हमारा काम सबकी भलाईके लिए होगा तो सबके अन्तर्गत हमारा अन्तःकरण, हमारा जीवन भी होगा और उससे हम भी सुखी हो जाएँगे। जो काम अपनी भलाई और सबकी भलाईके लिए होता है, उससे ईश्वरकी सेवा होती है। अतः ईश्वरकी सेवाके उद्देश्यसे, सबकी भलाईके उद्देश्यसे और अन्तःकरणकी शुद्धिके उद्देश्यसे काम होना चाहिए। काम कुछ-न-कुछ पानेके लिए भी नहीं होते, स्वच्छताके लिए भी होते हैं। हमारे एक बाबा थे, वे कहते थे कि हम लोग जो भोजन करते हैं वह भी सफाईके लिए होता है। वे यह दृष्टान्त देते थे कि हम मुँहमें जो भोजन करते हैं, पानी डालते हैं, वह कंकड़, पत्थर, माटीकी तरह शरीरके भीतर जाता है, मैलको नीचेकी ओर ढकेलता है। इसलिए भोजन भी हमारी जीवन-शुद्धिके लिए ही होता है, भोगवासनाकी पूर्तिके लिए नहीं होता। अस्तु; कर्म करनेमें प्रेरकपर दृष्टि एक, कर्मके स्वरूपपर दृष्टि दो, और उससे किस प्रयोजनकी सिद्धि होगी तीन—इन तीनोंका निश्चय करके मनुष्यको विवेकपूर्वक कर्म करना चाहिए।

अब प्रयोजनकी सिद्धिमें सावधान रहनेकी बात क्या है, इसपर विचार करें। सावधानी इस बातकी चाहिए कि इससे हमारे अभिमानकी क्या रूपरेखा बनती है। क्योंकि प्रत्येक कर्म

अपनेको कर्ता बनाता है और वह कर्ता बननेपर अपनी स्थितिके अनुसार फल देता है। यदि आपने अच्छा काम किया है और सोचते हैं आपने बहुत अच्छा काम किया तो आपके सोचनेका यह ढंग ठीक नहीं। अपितु इसको सोचनेका ढंग यह है कि आपने जो अच्छा काम किया उसकी दुनियाको कितनी अधिक आवश्यकता थी। जहाँ दूधके समुद्रकी आवश्यकता है वहाँ हमने दुनियाको पीनेके लिए जो दूध दिया वह तो एक गिलास भी नहीं। अपनी सेवा पूरी नहीं बनी, उसमें कमी रह गयी। इस प्रकार आप सोचेंगे तब तो अभिमानकी उत्पत्ति नहीं होगी। किन्तु यदि आप अपनी सेवाको अधिकाधिक बढ़ा-चढ़ाकर देखेंगे तो आपकी ओर अभिमानका आगमन होगा और वह आपको अशुभकी ओर उन्मुख करके आपसे यह चिन्तन करायेगा कि वाह, हमने बड़ा भारी काम किया, कुछ और कर सकते तो अच्छा रहता। अच्छे काममें सबसे बड़ा डर यही रहता है कि कर्ताकी ओर अभिमानका पदार्पण न हो जाये। इसलिए कर्म करनेमें हमारी सेवा अधिक है, ऐसा नहीं समझकर हमारी सेवा कम-से-कम है— यह समझना चाहिए। अभिमान आनेसे क्या होता है यह हम कई बार आपको बता चुके हैं। अभिमानका भूत सवार होनेपर मनुष्य अपनेको बड़ा और दूसरोंको छोटा समझने लगता है। वह वास्तवमें दूसरेको नहीं, स्वयं ईश्वरको और ईश्वरके नाते अपने आपको ही छोटा समझता है। जिसको छोटा समझा जाता है, वह छोटा नहीं होता, जो छोटा समझता है, वह छोटा होता है। ऐसा क्यों ? इसलिए कि अन्तःकरण तो वृत्तिरूप ही है, मन ही तो अन्तःकरणका स्वरूप है। जब हमारा मन छोटा आकार धारण करता है और छोटे आकारको देखता है तो स्वयं छोटा हो जाता है और जब बड़ी वस्तुको देखता है तो बड़ा हो जाता है। हीनताका भाव आनेपर ही हम दूसरोंको छोटा देखते हैं।

जबतक अपनेमें हीनताका भाव नहीं, तबतक हम दूसरेको छोटा देख हो नहीं सकते।

यह बात इसलिए सुनायी कि बुद्धिका कर्ममें रहना आवश्यक है। बुद्धिसे रहित, विवेकसे रहित जो कर्म है, वह दूसरोंके लिए हानिकारक होगा, अपने लिए हानिकारक होगा और भगवान्‌की प्रसन्नताका, ईश्वरके प्रसादका साधन नहीं बनेगा। प्रश्न उठता है हम यह कैसे जानें कि हमारे द्वारा जो कुछ होता है, वह विश्व प्रपञ्चके लिए किस प्रकार लाभ अथवा हानिका कारण होता है। प्रपञ्च शब्दका अर्थ संस्कृतमें विचार होता है, बखेड़ा होता है 'पचि विस्तारे' धातुसे प्रपञ्च शब्द बनता है। सिंहके लिए जो पञ्चास्य, पञ्चानन शब्दका प्रयोग होता है, उसका अर्थ यह नहीं कि सिंहके पाँच मुँह हैं। बल्कि यह अर्थ होता है कि उसका मुँह बहुत बड़ा है। विस्तृत मुखको पञ्चानन बोलते हैं। अस्तु, विश्व-प्रपञ्चका बड़ा भारी विस्तार है। इसमें हम कब कहाँ किसको हानि पहुँचा रहे हैं और कब कहाँ किसको लाभ पहुँचा रहे हैं, यह समझ पाना तो वास्तवमें साधारण व्यक्तिके लिए कठिन है, असम्भव प्राय है। दुनियामें एक-एक व्यक्ति या समूहसे पूछ-पूछकर भलाई-बुराईका ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता। एक-एक व्यक्ति या समूहसे कहाँतक पूछा जा सकता है और उसकी सलाहके अनुसार कहाँतक काम किया जा सकता। तब लाभ-हानि जाननेकी कसौटी क्या है ? कसौटी अपने पास ही है और वह है अपने अन्तःकरणका प्रसाद। उसीसे हम अपने अच्छे, बुरे कर्मोंकी परख कर सकते हैं।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥

(गी० २.६७)

प्रज्ञाका नाश कब होता है ? जब आगे-आगे चलते हैं इन्द्रिय-गण और पीछे-पीछे चलते हैं हम। राम-राम! हम अपने जीवनमें ऐसे दुष्टोंको आगे करके चलते हैं, जिनका तुष्टीकरण कभी शक्य नहीं, सम्भव नहीं। हमने बाल्यावस्थामें देखा था एक सज्जन हमारे पितामहके पास आते थे। उनको पाँच रुपये दे दें तब भी दु:खी होते थे और रोते-चिल्लाते थे कि दस क्यों नहीं दिये। कभी दस रुपये दे दें तब भी रोते कि बीस क्यों नहीं दिये। कभी सन्तुष्ट नहीं होते थे। तो जो शिकायती राम हैं, हर बातमें शिकायत-ही-शिकायत होती है जिनको, वे कभी सुखी नहीं हो सकते। ईश्वरने हमको क्या-क्या नहीं दिया, इसकी लिस्ट हर समय शिकायती रामोंके पास रहती है और वे इस बातपर रोते रहते हैं कि हमको धन नहीं मिला, मकान नहीं मिला, बेटा नहीं मिला, बेटी नहीं मिली, अच्छी पत्नी नहीं मिली, स्वस्थ शरीर नहीं मिला आदि आदि। वे यह नहीं देखते कि ईश्वरने इतनी बढ़िया आँख दी, नाक दी, जीभ दी, दिल दिया, दिमाग दिया। हमारे तुलसीदासजी कहते हैं—

दियो सुकुल जन्म शरीर सुन्दर देत जो फल चारि को।

अत: भगवान्‌ने जो दिया है, उसको देखो। शिकायती रामकी तरह ईश्वरके काममें खुचर मत निकालो। यह खुचर शब्द हमारे गाँवका है। यहाँ क्या बोलते हैं, हमको मालूम नहीं, अर्थ है दोष दृष्टि रखना, अथवा दोष निकालना। जैसे चूहा किसी भी चीजको काट देता है वैसे ईश्वरकी करतूतमें, ईश्वरकी क्रियामें काट-छाँट करना या गलती निकालना ठीक नहीं। ऐसा करते रहनेसे आपको कभी संतोष नहीं होगा। ये इन्द्रियाँ कभी सन्तुष्ट नहीं होतीं। इनको संसारका चाहे जितना भी भोग दे दो, ये कभी सन्तोष करनेवाली नहीं। एक वस्तु मिलेगी तो उसे तिजोरीमें

रख लेंगे और फिर दूसरीपर नजर डालेंगे। इसी प्रकार दूसरी मिल जायगी। तो तीसरीपर और तीसरी मिलेगी तो चौथीपर नजर जायगी। इसीलिए कहते हैं कि यदि संसारके सम्पूर्ण विषय किसी एकको दे दिये जायँ तो भी वह सन्तुष्ट नहीं होगा।

यत् पृथिव्यां ब्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
नालमेकस्य तृप्त्यर्थमिति मत्वा शमं व्रजेत्॥

हमारे ये इन्द्रियगण जीवन-निर्वाहके लिए कर्तव्य कर्म सम्पन्न करनेके लिए प्राप्त हुए हैं; वासनाओंके तुष्टीकरणके लिए नहीं। इनको आगे-आगे करके इनके पीछे-पीछे मन चला तो मनुष्य भोगोंमें फँसता जायेगा। इसको ऐसे समझिये कि कोई एक व्यक्ति शहरमें गया और वहाँ उसने बहुत बढ़िया-बढ़िया चीजें देखीं। आँखोंसे चीजें देखीं, कानोंसे संगीत सुने, नाकसे सुगन्ध सूँघा और जीभसे सुस्वादु वस्तु चख ली। अब उसके मनने कहा कि ये सब वस्तुएँ हमारे घरमें भी होतीं तो कितना अच्छा होता। मन यही चाहता है कि हम इन्द्रियोंकी तृप्तिके लिए अपने घरमें अच्छी-अच्छी चीजोंका बाजार बना लें। अरे भाई मनचाही चीजोंका बाजार क्यों बसाना चाहते हो? जरूरत है तब तो अमुक वस्तु ले आओ, अन्यथा बिना जरूरत तुम्हारी आँख, कान, नाक और जीभने तुम्हें संग्रह करनेकी जो सलाह दी है, वह ठीक नहीं। जानते हो इसका नतीजा क्या होगा? यही होगा कि तुम्हारे इन्द्रिय तुम्हारी प्रज्ञाका हरण कर लेंगे—

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥

इसलिए अपनी प्रज्ञाको नष्ट होनेसे बचाओ। **रक्षत रक्षत कोशानामपि कोशं हृदयम्।** अपना दिल खजानोंका खजाना है।

इसकी रक्षा करनेपर ही सब कुछ सुरक्षित रहेगा—यस्मिन् सुरक्षिते सर्वं सुरक्षितं स्यात् । सबकी भलाईके लिए काम करनेका उपाय अपने दिलको ठीक करना है। उसके बाद सारी दुनियाके लिए काम ठीक हो जाता है। मशीन ठीक होनेपर उसके काम अपने आप ठीक होते रहते हैं।

> रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
> आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥
> (गी० २.६४)

> प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
> प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥ (२.६५)

अन्तःकरणमें राग-द्वेष नहीं होना चाहिए। इस संसारमें जैसे भाई-भतीजावादी होते हैं वैसे ही राग-द्वेष होता है। जहाँ राग होता है वहाँ पक्षपात आ जाता है और जहाँ द्वेष होता है वहाँ विरोध उत्पन्न हो जाता है। इसकी कोई सीमा नहीं होती और उत्तरोत्तर उसका विस्तार हो जाता है। महात्मा गांधीने 'ब्रह्मचर्य' नामक पुस्तकमें इस बातको बहुत बढ़िया स्पष्ट किया है। जहाँ यह भाव आ जायेगा कि हम पहले भोजन कर लें, दूसरे बादमें करें वहाँ मोह और पक्षपात आ जायेगा। इसलिए हम जो भी काम करें उसमें मोह न हो, पक्षपात न हो। इसी प्रकार विरोध न हो, जलन न हो। इसका तात्पर्य यह नहीं कि आप संसारकी वस्तुओंको बिल्कुल छोड़ दें। जीवन-निर्वाहके लिए उनका उपभोग करें और अवश्य करें। किन्तु भोग करनेमें भी इन्द्रियाँ अपने वशमें हों। हम उनके वशमें न हों। मालिक जब नौकरोंके वशमें हो जाता है तब नौकर लोग उससे अन्याय ही कराते हैं। इसलिए मालिकको मालिककी जगहपर रहना चाहिए। हम मशीनके हाथमें न हों, मशीन हमारे हाथमें रहनी

चाहिए। अगर हम मशीनके हाथमें खेलेंगे तो वह हमें कहाँ ले जाकर पटकेगी, इसका कुछ पता नहीं। हमारा मन आज्ञाकारी होना चाहिए। हम कहें कि चलो तो चले, कहें कि रुको तो रुक जाये। जिस प्रकार अनर्थसे बचनेके लिए मोटरमें ब्रेक होना अनिवार्य है, उसी प्रकार हमारे अन्दर जो वारण अथवा वारक शक्ति है उसपर हमारा नियन्त्रण आवश्यक है। हम जब चाहें हाथ बन्द कर लें और जब चाहें मुट्ठी खोल दें। हमें विधेयात्मा होना चाहिए। विधेयात्मा व्यक्ति ही प्रसन्न रहेगा और उसे संप्रसादकी प्राप्ति होगी—**आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसाद-मधिगच्छति**। तो ईश्वरकी सेवा कौन कर रहा है? जो प्रसाद-पूर्ण निर्मल अन्तःकरणसे कर्म कर रहा है, वह ईश्वरकी सेवा कर रहा है, वही विश्वकी सेवा कर रहा है, वही जीवोंकी सेवा कर रहा है। हम एक-एक जीवसे नहीं पूछ सकते कि तुम्हारी सेवा हुई कि नहीं? जगत्‌के एक-एक पदार्थ, एक-एक पेड़, एक-एक पौधेको देखकर समझ नहीं सकते कि ईश्वर कैसे प्रसन्न होता है कैसे नहीं। इसका हम न तो प्रत्यक्ष अनुभव कर सकते हैं और न अपरोक्षानुभव कर सकते हैं। इसका अनुभव तो अपने अन्तःकरणके प्रसादसे ही हो सकता है। किसीने एक महात्मासे पूछा कि 'महाराज! ईश्वर हमारे ऊपर प्रसन्न है कि नहीं, यह हम कैसे जानें?' उन्होंने कहा कि पहले तुम यह जानो कि तुम अपने ऊपर प्रसन्न हो कि नहीं। यदि तुम अपनी नजरमें अपने कामको नापसन्द करते हो तो समझ लो कि ईश्वर भी नापसन्द कर रहा है। ईश्वरने न तो अलग अपनी कुटिया बनायी है और न अपनी नजर अलग रखी है। सम्पूर्ण जीवोंका अन्तःकरण ही ईश्वरका अन्तःकरण है और सबकी नजर ही ईश्वरकी नजर है। अगर तुम पाप कर रहे हो और अपनेको पतित समझते हो तो ईश्वरकी दृष्टिसे तो पापी और पतित हो ही।

इसलिए कर्ममें विवेककी आवश्यकता है। जब हम यह मान लेते हैं कि कर्मके साथ विवेक रहता है तो जहाँ विवेक कर्ममें मिला, वहाँ उसका नाम कर्मयोग हो गया। कर्म बुद्धिसे अनुगत ही होना चाहिए। कर्मयोग वह है, जिसमें कर्म भी है और बुद्धि भी। बुद्धिपूर्वक जो कर्म किया जाता है वही कर्मयोग है। एक बात और देखो, हमलोगोंके मनमें ऐसा होता है कि यह चीज बढ़िया है तो हम इसे क्यों न खाएँ। यहाँ हम केवल खानेकी वस्तुको ही दृष्टान्तके रूपमें लेते हैं। जब हमारे मनमें यह आता है कि यह पदार्थ स्वास्थ्यके लिए हितकारी है और गुणोंमें भी बहुत श्रेष्ठ है इसलिए हम उसको क्यों न खाएँ तो इसकी कोई हद नहीं होती। जब हम कपड़ा बढ़िया देखते हैं तो इसको भी क्यों न पहनेंकी अभिलाषा हो जाती है। इसी प्रकार आगे बढ़ते-बढ़ते कोई लड़की बढ़िया देखकर उससे ब्याह रचानेका भी मन हो सकता है। परन्तु क्या यह व्यक्ति और समाजके लिए हितकर है? इस संसारमें जो कुछ भी बढ़िया-बढ़िया है, वह सब तुमको ही मिले, इसका कोई ठेका है?

तो शास्त्रोंमें जहाँ-जहाँ, जो-जो निषेध है, आप उसपर ध्यान दें। यदि आप निषेधकी परवाह न करें और यह निश्चय कर लें कि संसारमें जो कुछ बढ़िया-बढ़िया है वह आपका ही भोग्य है तो आप दुनियामें किसी दूसरेको जिन्दा नहीं रहने देंगे। बढ़िया-बढ़िया पदार्थ देखकर उसको लेनेकी, खानेकी, भोगनेकी प्रवृत्ति मनमें स्वभावतः उदय होती है और उसीको रोकनेके लिए निषेध होता है। केवल निकृष्ट और हानिकारक पदार्थोंको ही रोकनेके लिए निषेध नहीं होता। उत्तम-उत्तम लाभदायक वस्तुओंको रोकनेके लिए भी निषेध होता है। मनुष्यका मन जिसको सुख-कारी समझता है, उसको संग्रह करना चाहता है। हमारे वृन्दावन-

के आश्रममें एक कदम्बका वृक्ष है। उसके पत्तोंमें दोने लगते हैं ऐसा दोना कि मोड़ना नहीं पड़ता और उसमें मक्खन या कुछ भी रखकर खाया जा सकता है। जब कोई नया व्यक्ति आता है और उसको दिखाया जाता है कि वह देखो दोना लगा हुआ है तब वह केवल देखकर प्रसन्न नहीं होता, यही चाहता है कि हम उसको तोड़कर घर ले जाएँ और लोगोंको दिखावें कि यह कैसा बढ़िया दोना है। तो मनुष्यकी जो प्रवृत्ति है, वह उत्तमका नाश करनेवाली है। इसलिए जब शास्त्र किसी वस्तुको खानेसे मना करे तब यह मत सोचो कि जब डाक्टर या वैद्य कहते हैं कि इसमें बहुत गुण हैं तब हमको यह खाना ही चाहिए। शास्त्रके, धर्मके जो आदेश होते हैं, वे वस्तुके गुणको देखकर नहीं होते, इस दृष्टिसे होते हैं कि उनका मनपर क्या प्रभाव पड़ेगा। आज-कलके विचारोंकी जो प्रणाली है, वह पुराने विचारोंको भूल गयी है। इसलिए यह सब सुनाना पड़ता है। हमारे शास्त्रोंकी प्रणाली है कि आपका मन आपके हाथसे छूट न जाये। मनकी बागडोर आपके हाथमें है तो वह अच्छेसे अच्छे कामको भी रोककर आपको सोचनेका अवसर देता है। वृन्दावनमें एक सन्त थे, वे अपने भक्तोंको कोई ग्रन्थ पढ़नेको देते थे तो कहीं-कहीं उसके दो-दो, तीन-तीन पन्नोंमें आलपिन लगा देते थे। उनको चिपका देते थे और कह देते थे कि देखो, ये पन्ने मत पढ़ना। यद्यपि उन पृष्ठोंमें कोई हानिकर बात नहीं होती थी, तथापि वे यह देखना चाहते थे कि उनका वह शिष्य उनकी आज्ञाको मानता है या नहीं। आज्ञा पालन करनेका माद्दा उसके अन्दर है कि नहीं? यदि कोई शिष्य उनके आदेशका उल्लङ्घन करके उन पृष्ठोंको पढ़ लेता तो वह बात जाहिर हो जाती और फिर वह सन्त उसको समझाते कि मनपर काबू न करनेसे क्या हानि होती है। कोई-कोई शिष्य ऐसे भी होते कि उन सन्तने जिन-

जिन पृष्ठोंको पढ़नेसे मना किया होता, वे पृष्ठ यदि खुले होते तो भी उनको नहीं पढ़ते और इससे उन शिष्योंके मनोबल और अनुशासन-प्रियताका पता लगता। तो धर्म हमारे ही मनको हमारा आज्ञाकारी बनानेके लिए होता है। हमारे शास्त्र वस्तुओंके गुणोंके भाट नहीं कि उनकी तारीफपर तारीफ करके बतावें। धर्म और ऋषि हमारे मनको नियन्त्रित मर्यादित और अच्छा बनानेके उपाय बताते हैं और उसीको ध्यानमें रखकर विधि-निषेधका विधान करते हैं। विधिसे मतलब मीठा-मीठा खानेकी विधि और निषेधसे मतलब कड़वा-कड़वा छोड़नेसे नहीं। जिसमें मनुष्यकी स्वयं रुचि नहीं होती, उसमें रुचि जगाने और प्रवृत्त करनेके लिए शास्त्रीय विधान होता है। जो काम आप स्वयं कर लेते हैं उसे करनेके लिए आदेश देनेकी आवश्यकता नहीं होती। आवश्यकता आदेश देनेकी वहाँ होती है, जहाँ आप आलस्य या प्रमाद करते हैं। यहाँ आपको शास्त्रकी थोड़ी बात इसलिए सुना रहे हैं कि यह पीढ़ी दर पीढ़ीसे हमारे संस्कारमें चली आ रही है। हम आपको प्रतिज्ञापूर्वक यह बता सकते हैं कि सनातन धर्मकी प्रत्येक क्रियामें क्या युक्ति है। क्योंकि हमारे पिता, हमारे दादा, हमारे गुरु, हमारे परमगुरु, हमारे सन्त-यही काम करते थे।

यदि शास्त्रमें सन्ध्या-वन्दनका विधान न होता तो कोई भी प्रातः सायं बड़ा-बूढ़ा या दस-बारह वर्षका बच्चा अपने आप आसनपर बैठकर ध्यान प्राणायाम करता और मन्त्रोच्चारणके साथ अपने ऊपर जल छिड़कता? तो विधि **विधिरत्यन्तमप्राप्तौ** के अनुसार जो वस्तु स्वयं प्राप्त नहीं रहती, जिसके गुणका ज्ञान नहीं रहता, जिसको करनेमें हम अलसाते हैं, प्रमाद करते हैं, उसकी ओर शास्त्र हमें प्रवृत्त करता है, आज्ञा देता है। शास्त्रोंका

लक्ष्य यही है कि हमारा मन जागे और जो हम आलस्य प्रमादवश करना नहीं चाहते वह करें। उधर शास्त्र यह भी चाहता है कि जिसको करनेके लिए हमारा मन दौड़ता है, वहाँ हम सावधान रहें, इसलिए वह हमारा निषेध भी करता है। मतलब यह है कि कहाँ हमको तेज चलना चाहिए और कहाँ रुकना चाहिए, इसका ज्ञान हमें होना चाहिए। हम जंगलमें चलते समय शेर-भालुओंमें बैठना उचित न समझकर जल्दी निकल चलते हैं। इसी प्रकार संसारकी लुभावनी ललचाऊ चीजोंमें हम फँस न जाएँ इसका जो विवेक है, इसीको बुद्धियोग बोलते हैं, इसीको कर्मयोग बोलते हैं। हमारे वेदान्तमें ज्ञानको कर्मसे अलग करके देखनेकी प्रणालीका नाम 'अन्वय-व्यतिरेक' है। इसीको विधिमुख और निषेधमुख बोलते हैं, अनुगति बोलते हैं, अनुवृत्ति और व्यावृत्ति बोलते हैं। एक ज्ञान वह है जो कर्मके साथ मिल जाता है और एक ज्ञान वह है, जो कर्मसे अलग बैठा रहता है।

अब हम आपका ध्यान सम्पूर्ण विश्वके धर्मोंपर धर्मग्रन्थोंपर, ज्ञानग्रन्थोंपर आकृष्ट कर यह पूछना चाहते हैं कि किसीने वह ज्ञान स्वीकार किया है, जो स्वयंप्रकाश और कर्मके साथ सम्बन्ध नहीं रखता ? बाइबिलमें भी, कुरानशरीफमें भी, जिन्दावस्तामें भी उसी ज्ञानका वर्णन है; जो कर्ममें उपयोगी होता है। हमारे पूर्वमीमांसाका भी यही सिद्धान्त है कि जो ज्ञान कर्मके लिए उपयोगी नहीं, वह निरर्थक है। इसलिए कर्ममें उसका उपयोग करना चाहिए। पण्डित लोग जानते हैं—

आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्।
विधिनात्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः॥

सम्पूर्ण वेद जो ज्ञान देते हैं, वे कर्म करनेके लिए देते हैं। इसलिए यदि किसी वेदमें कोई ऐसा मन्त्र मिले जो कर्ममें उपयोगी

न प्रतीत हो तो वह निरर्थक है ! उस मन्त्रमें भी किसी-न-किसी चीजकी तारीफ तो होगी ही। उसके द्वारा किसी देवताकी स्तुति की गयी होगी या यजमानकी अथवा किसी कर्मकी स्तुति करके कहा गया होगा कि यह काम करो। अतः उस मन्त्रका प्रयोग भी कर्मपरक ही है। तो जिन्होंने समूचे ज्ञानको कर्मका अंग बना लिया, उन्होंने उसकी अपौरुषेयताको भी समझा। ज्ञान ऐसा भी होता है, जो पुरुष-प्रयत्नसे उत्पन्न नहीं होता। जैसे सत् पुरुष-प्रयत्नसे उत्पन्न नहीं होता, वैसे ही चित् भी पुरुष-प्रयत्नसे उत्पन्न नहीं होता।

तो ज्ञान कर्ममें अनुगत भी रहता है और कर्मसे व्यतिरिक्त भी रहता है, जुदा भी रहता है। यदि केवल निःश्रेयस चाहते हो तो व्यतिरिक्त ज्ञानसे भी, शुद्ध ज्ञानसे भी, नैष्कर्म्यकी प्राप्ति हो सकती है। परन्तु कर्मवाला ज्ञान उसमें मददगार होता है। ज्ञान तो कर्ममें रहता ही है, कर्म वह चीज है, जिसमें कर्म और ज्ञान दोनों हैं तथा संन्यास वह चीज है, जिसमें कर्मसे अलग किया हुआ ज्ञान, शुद्ध जाना हुआ ज्ञान रहता है। संन्यासका अर्थ है विषयका त्याग करके प्राप्त किया हुआ ज्ञान। संन्यास भी ज्ञान ही है और कर्मयोग अर्थात् वह ज्ञान जो कर्मसे मिला हुआ है। अतः आप विवेकपूर्वक अपने कर्त्तव्यका पालन करते चलो। अर्जुनके माध्यमसे भगवान् श्रीकृष्ण आपको ही उद्बोधित कर रहे हैं—

निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात् प्रमुच्यते।

वे कहते हैं, अर्जुन तुम्हें दो-दो हाथ मिले हैं काम करनेके लिए। इतने विशाल तुम्हारे बाहु और तुम अकर्मण्य, निकम्मा होना चाहते हो। तुम भीख माँगकर खाना चाहते हो। आओ-

आओ, निर्द्वन्द्व हो जाओ, अपने मनसे सब दुविधा और द्वेष छोड़ दो। पाप-पुण्यको अलग करो, सुख-दुःखको अलग करो और शान्ति अथवा विक्षेपका भी विचार छोड़ो। सर्दी-गर्मीका भी ख्याल छोड़ो—**यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।**

और, निर्द्वन्द्व होकर संसारके सब बन्धनोंसे मुक्त हो जाओ—

सुखं बन्धात् प्रमुच्यते।

प्रवचन-४

जब यह प्रश्न उपस्थित हो कि कर्म करें अथवा कर्मका त्याग, तब मनुष्यको विवेक द्वारा जो धर्मानुकूल जान पड़े, उसका पालन करना चाहिए। जब कर्म करना धर्म प्रतीत हो तभी कर्म करना चाहिए और जब कर्म-त्याग धर्मका रूप धारण करले तब कर्म-त्याग करना चाहिए। अपने जीवनमें करना और छोड़ना दोनों चलते हैं। उसका पहला विवेक यह है कि जो कर्तव्य कर्म हैं, उन्हें करना चाहिए और जो त्यक्तव्य कर्म हैं, उनका त्याग करना चाहिए। करने और छोड़नेका अभ्यास प्रारम्भसे ही बना रहे तो अच्छा है। कोई कहे कि आओ विश्राम करें तो पहले श्रम कर लोगे तब न विश्राम करोगे। जो श्रम नहीं करेगा, उसको विश्राम भी नहीं मिलेगा। दिन भर लेटे रहें और रातको नींद लेना चाहें तो अच्छी नींद नहीं आवेगी। काम करके, परिश्रम करके सोनेपर ही नींद अच्छी आती है। इसलिए पहले कर्म हो, फिर कर्मत्याग हो तो ठीक रहता है। कोई कहे कि दान करना धर्म है और केवल इसी बातको पकड़कर बैठ जाये, कमाई न करे तो जिसके पास होगा नहीं वह दान कहाँसे करेगा ? होगा तभी, जब वह परिश्रम-पूर्वक उपार्जन करेगा। दान करना उसीका धर्म होता है, जो पहले पैदा कर लेता है। 'दान करना धर्म है'—यह वाक्य ही इस बातको सूचित करता है कि उपार्जन करना पहला धर्म है। उपार्जन करेंगे तो जीविका चलेगी और जो अधिक होगा उसका दान करेंगे। जितनी हो अधिक बचत होगी उतना ही अधिक दान करेंगे। इसलिए जैसे दान करनेके पहले उपार्जन आवश्यक है,

वैसे ही कर्म-त्यागके पूर्व कर्म करना अनिवार्य है। जिसके पास कर्मकी पूँजी नहीं, वह कर्मका त्याग अथवा कर्मका दान कहाँसे करेगा ? दोनोंमें विवेककी आवश्यकता होती है। विचार छोड़कर कोई साधन नहीं होता। अभी हम लोग कह रहे थे कि इस वर्ष ईश्वर खूब वर्षा कर रहा है। तो, जिस प्रकार ईश्वर अपना काम कर रहा है, उसी प्रकार आओ हम लोग भी अपना काम करें।

यजतां पाण्डवः स्वर्गं वर्षत्विन्द्रस्तपत्विनः।
वयं हनाम द्विषतः सर्वः स्वार्थं समीहते॥

इसमें यही कहा गया है कि युधिष्ठिर जैसे धर्मात्मा यज्ञ करें, इन्द्र वर्षा करें, सूर्य धूप डालें, और हम लोग अपने कर्तव्यके पालनमें जुट जाएँ। क्योंकि सबलोग अपना-अपना काम करते हैं और अपने-अपने कर्तव्यको पूरा करते हैं तो इस धरतीपर स्वर्ग उतर आता है। कोई कहे कि कर्म-संन्यास और कर्मानुष्ठान—ये दोनों अलग-अलग हैं। तो यह अविवेककी, अज्ञानकी बात है। विद्वान् लोग ऐसा कभी नहीं कह सकते। आपको यह बात मालूम होगी कि दुनियाकी कोई भी वस्तु तभी सफल होती है, जब उसका ज्ञान होता है। सृष्टिमें हमेशा ज्ञान प्रधान होता है, फलवृत्ति कोई वस्तु नहीं होती। यहाँ तक कि ईश्वरकी प्राप्ति भी ज्ञानसे ही होती है। यदि आपके सामने राम, कृष्ण, शिव, विष्णु स्वयं आकर खड़े हो जाएँ परन्तु यदि आपको ज्ञान न हो तो उनका आना आपके लिए न आने सरीखा ही रहेगा। अतः आप जो कर्म करते हैं, वह आपका कर्तव्य है कि नहीं—यह ज्ञान होना चाहिए। उसको आप ठीक कर रहे हैं कि नहीं—यह ज्ञान होना चाहिए। वह पूरा हो गया कि नहीं—यह ज्ञान होना चाहिए और उसका यह फल मिला है, उसमें यह लाभ हुआ है—यह भी ज्ञान होना चाहिए। संसारमें अगर ज्ञान न हो तो सब कुछ नहीं

के बराबर हो जाएगा। इसलिए आप चाहे कर्म करें, चाहे कर्म छोड़ें; उसके फलके रूपमें आपको ज्ञान ही प्राप्त होगा। जो कर्म करता है, वह भी ज्ञानकी उपासना करता है और जो कर्म छोड़ता है, वह भी ज्ञानकी ही उपासना करता है। सर्वत्र ज्ञान ही ज्ञान है। कर्मत्याग भी ज्ञानकी एक रीति है, एक शैली है और कर्मानुष्ठान भी ज्ञानकी एक रीति है, एक शैली है।

एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्।

चाहे कोई कर्मानुष्ठान करे, चाहे कर्मसंन्यास करे, ठीक-ठीक करना चाहिए। एक सज्जन जंगलमें गये। उनके साथ दो-चार अन्य व्यक्ति भी थे। उन्होंने सबको अलग-अलग आज्ञा दी कि तुम लकड़ी इकट्ठी कर लो। तुम पकानेकी वस्तुएँ ले आओ। तुम बर्तन ठीक करो। तुम आग जलाओ और फिर एकसे यह कहा कि जब रसोई पक जाए तब तुम आग बुझाना मत भूलना। क्योंकि यह जंगल है। यहाँ यदि आग लग गयी तो वह वनमें फैल जायेगी और बहुत हानि पहुँचावेगी। इसलिए आग बुझाना परमावश्यक है। इस प्रकार उन्होंने सबको काम समझा दिया। अब लकड़ी आयी, राशन आया, बर्तन आये और रसोई बनानेकी तैयारी हो गयी। इतनेमें एकने कहा कि जब अन्तमें आग बुझानी ही है तो जलावें क्यों? इस प्रश्नका विवेकसे कोई सम्बन्ध नहीं। अरे भाई, यदि आग जलायी न जायेगी तो न रसोई पकेगी और न भोजन मिलेगा। इसलिए पहले आग जलाओ, रसोई पका लो, भोजन कर लो, उसके बाद सावधानीसे आग बुझा देना। यदि आप किसी कर्ममें उसके क्रमका ध्यान नहीं रखेंगे तो आपके प्रयोजनकी पूर्ति ही नहीं होगी। सबसे उत्तम काम वही है, जो इस समय आप विवेकपूर्वक अपना कर्तव्य समझकर कर रहे हैं। आप गीतामें पढ़ते हैं—**ब्रह्मकर्मसमाधिना**। तात्पर्य यह कि

आप जो कर्म कर रहे हैं वह साक्षात् परब्रह्म परमात्मा है। उसके प्रति निष्ठा होनेपर उसमें आपकी समाधि लग जायेगी। समाधि लगनेका मतलब है कि आप उसके लिए भोजन तक भूल जाएँगे। कर्ममें तन्मयता होनेपर ही वह सफल होता है। हमने एक व्यापारी सज्जनके सम्बन्धमें सुना है कि वे अपने व्यापारमें लग जानेपर अपना खाना-पीना सब कुछ भूल जाते थे। जब उनका सेवक उनके पास भोजन रखकर कहता कि भोजन कर लीजिये तब वे भोजन करते थे और कभो-कभी भोजन करनेके बाद पूछते थे कि अभी मैंने भोजन किया है या नहीं? एक दिन उनका सेवक उनको भोजन कराकर स्वयं भोजन कर रहा था तब उसे देखकर सेठजोको अपने भोजनकी याद आ गयो और उन्होंने उससे पूछा कि तुमने मुझे भोजन क्यों नहीं कराया? जब सेवकने उनको समझाया तब उनको अपने भोजनकी याद आयी। उन्होंने अपना सिर नीचा कर लिया और हिसाबमें लग गये। ऐसी तन्मयताकी स्थितिमें एक काम करें और दूसरेकी याद करें—यह बात नहीं चल सकती। इसलिए कर्मब्रह्ममें समाधि लगाकर कर्म करो और फिर जब कर्मत्याग करो तो उसे ऐसे भूल जाओ जैसे कभी कर्म किया ही न हो। क्योंकि दोनोंमें ज्ञान अनुस्यूत है। यदि आप ऐसा करेंगे तो जब रसोई बनावेंगे तो वह बड़ी स्वादिष्ट बनेगी, जब कपड़ा बनावेंगे तो वह बहुत बढ़िया बनेगा और जब भजन करने बैठेंगे तब भजन भी बहुत अच्छा होगा। आप यह अभ्यास डाल लीजिये कि हमारा ज्ञान और कर्म दोनों अलग-अलग न होने पावें, परस्पर मिले रहें। ज्ञान छोड़कर कर्म करोगे तो जड़ता आ जायेगी और कर्म छोड़कर ज्ञान रखोगे तो निकम्मापन आ जायेगा। अतः भगवान् कहते हैं कि—**एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्।** आप कोई भी एक काम बिल्कुल ठीक ढंगसे कीजिये, आपको ज्ञान और कर्म दोनोंका फल मिल

जायेगा। हम आपको फिरसे बताना चाहते हैं कि फल न द्रव्यात्मक होता है, न साधनात्मक होता है, वह हमेशा ज्ञानात्मक ही होता है। अमुक फल हमको मिल गया, यह जबतक बोध नहीं होगा तबतक समझिये कि फल मिला ही नहीं। वृत्ति जब फलाकार हो जाये और उसमें अपना अहं भी प्रतिविम्बित हो जाये तब मानना चाहिए कि फल मिल गया। फल शब्दका संस्कृतमें अर्थ होता है वृत्तिमें प्रतिफलित। अस्तु, संसारी लोगोंको जो फल बहुत परिश्रम करनेके बाद मिलता है उसको हम बड़ी आसानीसे, अनायास प्राप्त कर लेते हैं। यह तो आपको मालूम ही है कि सुख और दु:ख दोनों मनमें ही होते हैं। मालूम न हो तो न सुखकी अनुभूति होगी और न दु:खकी। बेटेके होनेकी खबर न मिलनेपर सुख नहीं होगा और किसीकी मौत होनेकी खबर न मिलनेपर दु:ख नहीं होगा। इसलिए हम अपने मालूम पड़नेकी अवस्थाको ठीक रखें तो हमारा जीवन हमेशा सुखी रहेगा।

यत् सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥ (५.५)

हमारे कर्ममें ज्ञानकी, विवेककी, बुद्धिकी, विचारकी प्रधानता हो। आप अपने मनमें चाहे जब और चाहे जितनी देरतक यह भाव रख सकते हैं कि ईश्वर हमें मिला हुआ है, ईश्वर हमारे अन्त:करणमें अन्तर्यामी है। उसीकी रोशनीमें सब कुछ दीख रहा है। इसीलिए ईश्वरकी प्राप्तिको बहुत आसान माना गया है—

दिलके आइनेमें है तस्वीरे यार।
जब जरा गर्दन झुकाई देख ली॥

मनुष्योंको देखनेके लिए आपको आयास करना पड़ता है।

किसको-किसको देखें, यहाँ कौन सेठ जी हैं, कौन शास्त्री जी हैं, कौन श्रीमती जी हैं इसका ध्यान करना पड़ता है। नेत्रोंका अलग-अलग व्यापार करना पड़ता है—कभी इधर तो कभी उधर देखना पड़ता है। लेकिन रोशनी देखनी हो तो? वह सब ओरसे निकलकर सारे सभागृहको प्रकाशित करती दिखती है। जब आप प्रकाशमें अलग-अलग चीजोंको देखना चाहते हैं, तब अपनी आँख आपको चलानी पड़ती है। किन्तु केवल रोशनी देखनी हो तो अनायास दिखायी पड़ती है, उसके लिए आँखको न इधर ले जाना पड़ता है और न उधर ले जाना पड़ता है। इसी तरह आपके अन्तःकरणमें भीतरसे ही एक बड़ी रोशनी जगमगा रही है, एक महान् प्रकाश निकल रहा है।

तो चाहे बुद्धि हो अथवा बुद्धिपूर्वक कर्म हो महत्त्व हमेशा बुद्धिका ही रहेगा। यही एक ऐसी चीज है जिसका बुद्धि और कर्ममें, ज्ञान और कर्ममें, विवेक और कर्ममें, त्याग और कर्मानुष्ठानमें महत्त्व है। भगवान् आये, यह मालूम पड़ता है और भगवान् अन्तर्धान हो गये, यह भी मालूम पड़ता है। अतः यह मालूम पड़ना ही एक ऐसी वस्तु है जिसको पकड़ना पड़ता है—**यः पश्यति स पश्यति**—जो इसको देख लेता है, वही देखता है।

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति॥

(५-६)

श्रीकृष्ण कहते हैं कि अर्जुन तुम यदि समझते हो कि हम कर्म नहीं करेंगे और हमें संन्यास मिल जायेगा तो यह तुम्हारी भूल है। अच्छा अब आप देखिये, ब्याह न हो तो तलाक किस बातका होगा? पहले ब्याह हो तब न तलाक होगा? तो कर्म विवाह है

और संन्यास तलाक है। जिसने योग नहीं किया उसके लिए संन्यासकी प्राप्ति दुःखद ही है—**दुःखमाप्तुमयोगतः**। जब विधिपूर्वक कर्म होता है, तभी विधिपूर्वक संन्यास होता है। जब कानूनके अनुसार विवाह होगा तो कानूनके अनुसार तलाक होगा और जब शास्त्रीय संस्कारके अनुसार विवाह होगा तो शास्त्रीय संस्कारके अनुसार ही उसका त्याग होगा। यदि मनुष्य पहले विधिवत् कर्मका अनुष्ठान कर ले तो उसमें ऐसी योग्यता आ सकती है कि वह चाहे जब कर्मानुष्ठानको छोड़ दे। हाथ वहीं तक ले जाना चाहिए जहाँसे हम उसको खींच सकें। हमें अपनेको ऐसी जगह कभी नहीं फँसाना चाहिए, जहाँसे हम निकल न सकें। ऐसे कुँएमें नहीं उतरना चाहिए जिसमें-से हम बाहर न आ सकें। ऐसे छेदमें अँगुली नहीं डालनी चाहिए जहाँसे वह निकल न सके। बन्दरोंके सम्बन्धमें ऐसी चर्चा चलती है कि मदारी लोग जब उन्हें पकड़ना चाहते हैं तो छोटे मुँहके बर्तनमें थोड़ा चना रखकर उसको मिट्टीमें वहाँतक गाड़ देते हैं जहाँतक उसका मुँह खुला रह जाये। बन्दर आकर उसमें हाथ डालता है और जब मुट्ठीमें चना भरकर निकालने लगता है तब हाथ निकलता नहीं। वह मुट्ठी खोलकर चना छोड़ता नहीं और उसका हाथ फँसा-का-फँसा रह जाता है। इतनेमें मदारी आकर उसे पकड़ लेते हैं। इसी प्रकार जब मनुष्य स्वयंको ऐसी स्थितिमें पहुँचा देता है जिसे छोड़ना उसके सामर्थ्यसे बाहरकी बात हो, तब वह बन्धनमें पड़ जाता है। ऐसे ही लोगोंके सम्बन्धमें किसी कविने यह कहा है—

काजर की कोठरी में कैसो हू सयानो जाय।
एक रेख काजरकी लागि है पै लागिहै॥

तो हमें सावधान रहना चाहिए। असलमें सावधान रहना ही

सबसे बड़ी साधना है। सतत सावधानीका नाम ही साधना है। पाँव रखें पर फिसले नहीं। बोलें पर जबानमें कड़वापन न आ जाये, गलत न बोल जायें। देखें पर आँख टेढ़ी न हो, उसमें रूक्षता न आवे। हाथसे छूएँ, पर जिसे छुएँ उसको चोट न लगे, कठोरता न आवे। यह सब व्यवहारकी सावधानी है, इसीसे कर्ममें कुशलता आती है—**योगः कर्मसु कौशलं**। यह कुशलता मनुष्यमें आनी चाहिए। जब कर्ममें कौशल आता है तब वह योग बन जाता है। कर्ममें कुशलता आनेपर मनुष्यको पछताना नहीं पड़ता कि हाय-हाय मैंने यह नहीं किया, ऐसा नहीं किया। भगवान् श्रीकृष्णने कर्म करनेकी रीति बतायी है—

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥

(५.६)

कर्ममें कोई दोष नहीं, परन्तु 'कीजै तो तब जब करिबेकी रीति जानो।' काम करनेके पहले उसके करनेकी रीति सीख लेनी चाहिए। उसे सीखनेकी पहली शर्त यह है कि अकेला काम न हो, उसके साथ अक्ल भी हो, प्रेरणा भी हो, योजना भी हो। कर्मका निर्वाह है—

यत्र योगेश्वरः कृष्णः यत्र पार्थो धनुर्धरः।

तौल लो अपनेको, अपने कामको कि आप जो कुछ करने जा रहे हो, उसमें ईश्वरकी प्रेरणा है कि वासनाकी। यदि ईश्वर-की प्रेरणासे आप काम कर रहे हो तो संजयके शब्दोंमें—

तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम।

आपको श्री मिलेगी, विजय मिलेगी, विभूति मिलेगी और आप नीतिका ठीक-ठीक पालन कर सकेंगे। आपको बुद्धि भी

मिलेगी। ईश्वरकी बुद्धि आपके भीतरसे निकलती आयेगी और अपनी सम्मति प्रदान करती हुई आपके कामको बताती जायेगी। तो पहली शर्त यह है कि आप सोच-समझकर काम करें। दूसरी शर्त काम करनेकी यह है कि आपका दिल साफ हो। आप विशुद्धात्मा हों। इसका अर्थ यह है कि आप किसीको हानि पहुँचानेके लिए काम न करें, केवल अपने कर्तव्यका पालन करें। जो लोग दूसरोंको हानि पहुँचानेके लिए काम करते हैं, उनको काम करनेका तरीका मालूम नहीं। वे दूसरेको हानि नहीं पहुँचाते, अपने आपको ही हानि पहुँचाते हैं। क्योंकि दिल तो उन्हींका गन्दा होता है। एक सज्जनने गुस्सेमें आकर किसीको मारनेके लिए लोहेका जलता हुआ गोला उठा लिया। जिसको मारना चाहा उसको नहीं लगा और उन्हींका हाथ जल गया। यदि आप किसीका अनिष्ट करनेके लिए, किसीको नुकसान पहुँचानेके लिए, किसीको नीचा दिखानेके लिए काम करते हैं तो आप विशुद्धात्मा नहीं। आप विशुद्धात्मा तभी हो सकते हैं, जब आपका मन इमानदार हो, साफ हो। आपमें कर्तव्य-पालनकी दृष्टि हो और दूसरेको हानि पहुँचानेकी भावना न हो।

वस्तुतः जब मनुष्यमें स्वार्थ प्रबल हो जाता है तब उसका अन्तरात्मा मलिन हो जाता है, उसमें कल्मष आ जाता है। अतः आप ध्यान रखें कि दूसरेको पराजित करनेके लिए नहीं बोल रहे। यदि आप हार-जीतका ख्याल रखकर बातचीत करते हैं तो आपकी आत्मा, आपका मन शुद्ध नहीं। बात-पर-बात भिड़ानेकी कोई जरूरत नहीं। यदि सामनेवालेने सच्ची बात, इमानदारीकी बात कही है तो उसके विरोधकी कोई आवश्यकता नहीं। यदि उसकी बात युक्तियुक्त है तो उसे मान लीजिये। **बालादपि सुभाषितम् ग्राह्यम्।** बच्चा भी अच्छी बात बोले तो

अपना अहंकार छोड़कर उसे स्वीकार कर लेना चाहिए। जिस तरह जुबान-से-जुबान लड़ाना ठीक नहीं उसी तरह काम-से-काम लड़ाना अथवा भोग-से-भोग लड़ाना भी ठीक नहीं है।

अब विजितात्माका अर्थ लें। विजितात्मा उसे कहते हैं जो अपनेपर नियन्त्रण रख सके। हमलोग बचपनमें, जवानीमें बहुत चलते थे, बहुत दौड़ते थे। एक-एक दिनमें पच्चीस मीलतक हम चले हैं। परन्तु जहाँ रुकना होता, वहाँ रुक जाते थे। आप भी खूब चलिये परन्तु जहाँ ठहरना हो, ठहर जाइये। इसी प्रकार आप हाथसे वही कीजिये, जो करना उचित हो। आँखसे वही देखिये, जिसे देखना उचित हो। वही बोलिये जो बोलना उचित है। ऐसा न हो कि आपके हाथ-पाँव जीभ नाक अथवा अन्य इन्द्रिय आपके वशमें न हों। विजितात्माका जीवन उसके अधीन होता है, स्वाधीन होता है, परवश नहीं होता। मनुजी महाराज सुख-दुःखके लक्षण बताते हुए कहते हैं—

सर्वं परवशं दुःखं सर्वं आत्मवशं सुखम्।
एतद् विद्यात् समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः॥

लक्षण अर्थात् लक्ष्य करानेकी प्रक्रिया। लक्षण, लखन, लखाना—ये सब एक ही हैं। लक्ष्मण क्या करते हैं? रामको लखाते हैं, उनके लक्ष्य हैं। लक्ष्मी क्या करती हैं? नारायणको लखाती हैं, उनकी लक्ष्य हैं। **लक्ष्यते अनेन**—जिससे हम लक्ष्यको पहचान सकें, उसका नाम लक्षण।

तो, सुख-दुःखको पहचाननेकी रीति क्या है? यही है कि यदि आप स्वाधीन होते जा रहे हैं तो सुखकी ओर और पराधीन होते जा रहे हैं तो दुःखकी ओर बढ़ रहे हैं। लखनऊके एक नवाबके सम्बन्धमें यह कहा जाता है कि उसके पास जूता पहनाने-

वाला नौकर न होनेके कारण, दरवाजा खुला होने, नाव तैयार होने तथा बहुत-से मददगार होनेपर भी उठकर भाग नहीं सका, पकड़ा गया और कैद हो गया। इस प्रकारकी पराधीनताके और भी अनेक उदाहरण हैं। हमारे पास एक सज्जन आये थे। लग-भग पच्चीस वर्षकी उम्र थी उनकी। घरसे पहले-पहल निकले थे। उनको स्वयं धोती पहनना नहीं आता था, दूसरा कोई धोती पहनाता था तब पहनते थे। वे अपने हाथसे खाते भी नहीं थे। मैंने पूछा तब बोले कि घरमें तो मेरी माँ अपने हाथसे खिलाती थी। अब बताओ पच्चीस बर्षकी उम्र और अपने हाथसे कपड़ा पहनना न आवे, खाना न आवे तो वे नंगे या भूखे रहेंगे कि नहीं ? तो भाई, अपना काम स्वयं करना चाहिए और उसे नौकर या मददगारपर नहीं छोड़ना चाहिए। हमने देखा है, एक मालिकने जब यह देखा कि उसका सेवक कोई काम ठीक नहीं कर रहा, तब उन्होंने वह काम अपने हाथसे करके उसको समझा दिया कि यह काम ऐसे किया जाता है। इसी तरह एक सासने अपनी बहूको स्वय रोटी बेलकर, सेंककर यह समझाया कि वह ऐसे पकायी जाती है। कहनेका मतलब यह कि मनुष्यको स्वयंमें इतना निपुण होना चाहिए कि वह पराधीन न रहे। जब हम एक व्यक्ति या अनेक व्यक्तियोंपर निर्भर करने लगते हैं और हमारी स्वाधीनता मिट जाती है तब हम दुःखको निमन्त्रण दे देते हैं। पराधीनता केवल सेवकों या सहायकोंके बिना काम न चलनेकी ही नहीं होती, बल्कि वस्तुओंके अभाव अथवा व्यवधान-की भी होती है। हमने एक आदमी देखा था, अफीम खाये बिना उसका काम नहीं चलता था। उसको जिस दिन अफीम खानेको न मिले, वह व्यग्र होकर धरतीपर लोटता था। एक आदमी हमने ऐसा भी देखा जो दूध न पीये तो उसको टट्टी नहीं आती थी। अतः पराधीनता न तो वस्तुकी चाहिए और न व्यक्तिकी।

इसी प्रकार येन-केन-प्रकारेण भोग प्राप्त करनेकी पराधीनता भी निषिद्ध है। आपको एक शास्त्रकी बात सुनावें। वैशेषिक दर्शनकी उपस्कार-वृत्तिमें यह आता है कि यदि किसीको प्रतिदिन सूर्य-नमस्कार करनेका अभ्यास हो जाये, आदत पड़ जाये तो जिस दिन वह सूर्य-नमस्कार नहीं कर सकेगा, उस दिन उसको बहुत तकलीफ होगी। यह दुःख कहाँसे आया? अपने जीवनमें एक अभ्यास डाल लेनेसे आया। दुःख विषय-भोगसे आता है, मनोभावकी पूर्ति न होनेसे आता है और अपने अभिमानपर चोट पड़नेसे भी आता है। हमने मान लिया कि हम बहुत बड़े हैं और किसीने हमारा अभिवादन नहीं किया तो दुःख आ गया। हमको एक बात याद है कि किस प्रकार हमारे सामने एक दुःखका प्रसंग आ गया और उसी समय एक महात्माके सावधान करनेपर हम उससे बच गये। हमारे पिताजीके शिष्य थे। रास्तेमें चलते-चलते दिख गये। हम अपेक्षा रखते थे कि जब वे हमारे पिताजीके शिष्य हैं तो हमको प्रणाम करेंगे। लेकिन उन्होंने प्रणाम नहीं किया, तो मनमें दुःख हुआ कि ये हमको प्रणाम क्यों नहीं करते ये तो हमारा अपमान करते हैं। मैंने महात्माजीसे घटना सुनायी और कहा कि मुझे तो उसके प्रणाम न करनेसे दु ख हुआ है। इसपर वे महात्मा बोले कि उसके प्रणाम न करनेसे तुमको दुःख नहीं हुआ। तुम्हारे मनमें जो प्रणाम करनेकी वासना थी उसकी पूर्ति न होनेसे दुःख हुआ। तुम्हारी वासनाका ही दु खाकार परिणाम हुआ। वास्तवमें दुःख मनमें होता है। उसका कारण बाहर नहीं होता। वह हमारी धारणाके अनुसार बाहरके किसी व्यक्ति, वस्तु अथवा भोगसे नहीं मिलता बल्कि उसके सम्बन्धमें हमारी जो उल्टी-सीधी वासना होती है उसीसे हमें दुःख मिलता है। दुःख विषय-भोगसे आता है, हम बीमार पड़ जाएँगे और अमुक विषय हमें नहीं मिलेगा—इस मनोराज्यसे

आता है। हम सोचते है कि ऐसा हो, वैसा हो। हमें पूरा गणित आता नहीं, कम्प्यूटरमें पूरी संख्या डाली नहीं हमारे मनने और हमने यों ही सोच लिया कि इसका ऐसा नतीजा निकलेगा। परन्तु जब नहीं निकलता तब रोना पड़ता है। अभिमानपर चोट पड़ती है। जीवनमें कोई आदत डाल ली जाए तो उस आदतके कारण भी मनुष्यको बहुत दुःख भोगना पड़ता है। अतः सावधान! हमें विषय-भोगकी आदत न पड़े और हम अनाप-शनाप मनोराज्य नहीं करें। अपने अभिमानको बढ़ावें नहीं और जीवनमें ऐसी आदत न डाल लें जो बादमें दुःख दे। हमारे बाबा जवानीमें प्रतिदिन दो-दो हजार दण्ड बैठक लगाते थे। अखाड़ेमें कुश्ती भी लड़ते थे। जब सत्तर वर्षके बूढ़े हो गये, तब उनके शरीरके जोड़ोंमें, एक-एक गांठमें दर्द होने लगा। क्योंकि अब वे उतना व्यायाम नहीं कर पाते थे दर्द होनेपर हम लोगोंको; ओ बचवा! कहकर बुलाते और बोलते कि 'मैं लेट जाता हूँ जरा मेरी पीठपर चढ़कर जोर-जोरसे लात मारो।' हमें गिरनेका डर लगता तो हमारे हाथमें डंडा दे देते। हम डंडा पकड़ते और उनके कंधों, पीठ और पावोंपर जोर-जोरसे लतियाते। ऐसा कर-वाये बिना उनसे नहीं रहा जाता था। यह उनकी आदत हो गयी थी और इसके बिना उन्हें चैन नहीं मिलती थी। हमें अपने आपको विजितात्मा बनाना चाहिए। जिसने अपने आपको काबूमें रखा वह संसारमें कर्म करनेमें सफल होगा और सुखका अधिकारी होगा। किन्तु जो स्वयं अपने नियन्त्रणसे बाहर है, जिसकी आत्मा विजित नहीं, जिसके इन्द्रियगण और मन-बुद्धि आदि नियन्त्रणसे बाहर हैं वह सुखी नहीं हो सकता। अतः मन, इन्द्रियोंका वशमें होना अनिवार्य है—**विजितात्माजितेन्द्रियः।**

अब आपको एक दूसरी बात सुनाते हैं—**सर्वभूतात्मभूतात्मा**

कुर्वन्नपि न लिप्यते। सबकी आत्मा ही जिसकी अपनी आत्मा हो गयी है, सर्वभूत ही जिसकी आत्मा है, सर्वभूतोंकी आत्मा ही जिसकी आत्मभूत है, वह किसी कर्मका कर्ता होनेपर भी उससे लिप्त नहीं होता। आप सोचो, हम तो नहीं जानते कि दुनियाके किसी मजहबमें ऐसी दृष्टि रखनेकी पद्धति है। **सर्वभूतात्मभूतात्मा।** यह गीताकी रीढ़ है, यह गीताका फार्मूला है, यह गीताका गूढ़ रहस्य है। आपको ध्यानमें आना चाहिए कि भगवान् जैसे कर्मत्यागसे कर्म करना श्रेष्ठ बताते हैं, वैसे ही कर्म-संन्याससे कर्मयोगको विशिष्ट घोषित करते हैं—

तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते।

अब आप इस बातपर ध्यान दो कि समाधि श्रेष्ठ है कि कर्मयोग? यदि भगवान् कर्मत्यागसे कर्मयोगको श्रेष्ठ बताते हैं तो समाधिसे भी कर्मयोगको श्रेष्ठ बताना आवश्यक है। अन्यथा समाधिमें तो कर्मत्याग ही हो जाता है। यदि समाधि-अवस्थामें कर्मयोगकी अपेक्षा कर्मत्याग श्रेष्ठ है तो कर्मयोग कर्मसंन्याससे हो ही नहीं सकता। इसी युक्तिपर, इसी तर्कपर, इसी विचारपर ध्यान देना है।

गीतामें समाधिका वर्णन तो है, परन्तु उसके अनुसार जो समाधि लगाता है वह अपर योगी है और उस अपरयोगीसे भी बड़ा एक परमयोगी होता है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

(गी० ६.३२)

यह बात कर्मयोगियोंके ध्यानमें भी कम आती है। वे कहते

हैं कि समाधि बहुत बड़ी बात है, वह लग जाये तो उत्तम है। उसके लिए कर्म छूट जाये तो छूट जाये। परन्तु इस सम्बन्धमें भगवान् श्रीकृष्ण जो कुछ कहते हैं वह ध्यान देने योग्य है। वे कर्मयोगको केवल कर्मत्यागसे ही नहीं, समाधिसे भी श्रेष्ठ बताते हैं और कहते हैं कि ऐसा कर्मयोगी परमयोगी है। अपरयोगी तो वह है जो समाधिस्थ है—

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥(६.१९)

जैसे दीयेकी लौ निश्चल होती है, वैसे ही जिसका चित्त निश्चल है, वह योगी है। यह अपरयोगी अथवा समाधिस्थ योगीका लक्षण है। इसके अतिरिक्त एक परमयोगी भी होता है—

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥ (६.८)

कर्मयोगी यदि अपना कर्म ठीक-ठीक करता है तो वह परमयोगी है। बस, उसके एक बात ध्यान देनेकी है। कर्मी लोग अपने परायेका बड़ा भारी भेद कर लेते हैं। श्रीकृष्ण कहते हैं कि—**आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन**—अर्जुन, जैसे अपनेको सुख-दुःख होता है वैसे ही सबको सब जगह सुख-दुःख होता है।

एतावानव्ययो धर्मः पुण्यश्लोकैरुदाहृतः।
यद्भूतशोकहर्षाभ्यामात्मा शोचति हृष्यति ॥

जो धर्म अव्यय है अविनाशी है, और बड़े-बड़े पुण्यश्लोक महापुरुषोंने जिसका पालन किया है, वह धर्म क्या है? वह धर्म यही है—दूसरेके दुःखमें दुःखी और दूसरेके सुखमें सुखी हो जाना। कैसे सुखी अथवा दुःखी होना तो बोले 'आत्मौपम्येन'

तथा—यथा कण्टकविद्धाङ्गो जातु नेच्छति ताम् व्यथाम् की तरह। काँटा गड़नेकी बात ऐसी है जो भुक्तभोगीके शरीरमें सिहरन पैदा कर देती है। हमने ऐसे-ऐसे काँटे देखे हैं कि शहरके लोगोंको उनकी कल्पना भी नहीं होगी। एक मित्र हमारे साथ चल रहे थे। उनके तलवेमें नागफणीका कांटा ऐसे गड़ा कि पंजेके ऊपर निकल आया। एक बार मुझे भी काँटा गड़ा तो कपड़ेवाले गोविन्दभवनी जूतेके तल्लेको छेदकर पाँवमें घुस गया। ऐसे काँटे जब किसीको गड़ते हैं तब उसे इतनी तकलीफ होती है कि वह कराह उठता है दुनियामें किसीको काँटा न गड़े। किन्तु वही व्यक्ति कुछ दिनों बाद दूसरेके पैरमें काँटा गड़ा देखकर यह कहता है कि कांटा ही तो गड़ा है कोई तलवार थोड़े ही लगी है। यह ठीक नहीं। अपने सुख-दुःखकी तरह दूसरेके सुख-दुःखको भी समझो। जैसे तुम अपने लिए सुख चाहते हो, वैसे ही दूसरेके लिए भी सुखका ध्यान रखो। जैसे तुम अपने दुःखसे परहेज करते हो वैसे ही दूसरेको भी दुःख न हो—इसका ध्यान रखो। जो अपने सुख-दुःखके समान ही सामनेवालेके सुख-दुःखको देखता है, अनुभव करता है, वही परमयोगी है। इसका अर्थ हुआ कि बेहोश योगीकी अपेक्षा होश-हवासमें रहनेवाला योगी श्रेष्ठ होता है। तभी समाधिकी अपेक्षा कर्मयोग श्रेष्ठ होगा। ब्रह्मज्ञान सबको नहीं होता। ब्रह्मज्ञान भले ही न हो, यदि हम अपना कर्मयोग ठीक-ठीक करें तो उससे हमारा अन्तःकरण शुद्ध होगा। फिर इस जन्ममें नहीं तो अगले जन्ममें ब्रह्मज्ञान हो जायेगा। हमारा वर्तमान जीवन ठीक-ठीक होना चाहिए।

सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते।

करनेमें कोई दोष नहीं, किन्तु करना चाहिए सर्वात्मसर्वभूतकी भावनासे। सबका सुख अपना सुख और सबका दुःख उनका

दुःख मानकर जो स्वयंको सबसे अलग करके देखते हैं उसीके सब दुश्मन हो जाते हैं। अपनेको सबसे अलग करके देखनेका फल क्या होता है—यह बृहदारण्यकोपनिषद्के एक मन्त्रमें आया है—

ब्रह्म तं परादाद्योऽन्यत्राऽऽत्मनो ब्रह्म वेद।
क्षत्रं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः क्षत्रं वेद।
देवास्तं परादुर्योऽन्यत्राऽऽत्मनो देवान् वेद।
सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्राऽऽत्मनः सर्वं वेद।

ये केवल चार लाइनें हैं उस मन्त्रकी। पूरा मन्त्र तो बड़ा है, उसे सुनानेकी आवश्यकता नहीं। इन पंक्तियोंमें कहा गया है कि ब्राह्मण आपका तिरस्कार कब करेगा? जब आप उसे पराया समझेंगे। आप समझें कि यह हमारा गुरु है, पुरोहित है, अपना है तो ब्राह्मण आपका शत्रु नहीं होगा, अपितु हित करेगा। और **अग्निमीडे पुरोहितं**—अग्निकी तरह प्रज्वलित, तेजस्वी रहकर आपकी रक्षा करेगा।

इसी तरह क्षत्रिय उसका तिरस्कार करेगा, उसको अपमानित करेगा जो उसे पराया समझेगा और देवता उसका शत्रु होगा, जो उसका तिरस्कार करेगा। इस तरह सब उसके शत्रु हो जाएँगे जो सबको पराया समझनेवाला होगा। इसलिए सर्वभूतात्मभूतात्मा बनो और इसी भावनासे आचरण करो। एक सन्त कविने कहा है कि—**अब हम कासों बैर करें?** जहाँ देखते हैं, वहाँ अपने प्यारे प्रभुका ही स्वरूप दीखता है। इसके सम्बन्धमें कई दृष्टिकोण हैं। देखो, बेवकूफी किससे नहीं होती? ऐसा कौन मनुष्य है, जिसने कभी नासमझीका काम नहीं किया। लेकिन जब हम खुद नासमझीका काम करते हैं तो अपनेको माफ कर देते हैं और दूसरा कोई नासमझीका काम करता है तब हम उसको सजा

देना चाहते हैं। दो तराजू हो गये। दूसरेकी नासमझी तौलनेके लिए दूसरा तराजू और अपनी नासमझी तौलनेके लिए दूसरा तराजू। होना यह चाहिए कि दूसरेसे गलती हो जाये तो उसको माफ करें और अपनेसे गलती हो तो उसको समझकर आगे न होने देनेकी प्रतिज्ञा करें, प्रायश्चित्त करें और अपनेको दण्ड दें। दण्ड अपने लिए और क्षमा दूसरोंके लिए होना चाहिए। यही प्रक्रिया है दोष-शोधनकी। किसका शरीर पञ्चभूतोंका बना हुआ नहीं है? जब अपने दाँतोंसे अपनी जीभ कट जाती है और अपने हाथोंसे अपनी आँखोंको चोट लग जाती है, तब हम क्या करते हैं? इसी तरह यदि किसीसे तुम्हें आघात लगा है तो उसको अपना आत्मा समझनेमें क्या कठिनाई है?

ईश्वर सबमें एक है। यह देखो, जो तुम्हारे सामने है उसके भीतर भी ईश्वर ही बैठा है। परन्तु अपने भीतरका ईश्वर याद नहीं होगा तो दूसरेके भीतरका ईश्वर कैसे याद आवेगा? एक जादूके खेलमें, मायामें कोई काम हो रहा है तो उसके लिए किसके ऊपर क्रोध किया जाये? इस जगत्‌में जो कुछ हो रहा है वह ब्रह्ममें प्रतीति मात्र जैसा है। यह केवल मालूम पड़ रहा है, वस्तुतः इसकी कोई सत्ता है नहीं, यह ख्याली है। फिर इसमें किसके ऊपर क्रोध किया जाये? तो—**सर्वभूतानाम् आत्मभूतः आत्मा यस्य**—समझो कि जितने प्राणी हैं, उनका आत्मा मैं ही हूँ। सबका सुख, सबका दुःख, सबकी गलती, सबकी सही हमारी है। चित्तमें—**आत्मौपम्येन यः पश्येत्, सर्वभूतात्मभूतात्मा**—की समता आ जानेपर आपको काम करनेकी छुट्टी मिल जायेगी और आप **कुर्वन्नपि न लिप्यते**—काम करनेपर भी उससे लिप्त नहीं होंगे। किसीको नुकसान नहीं पहुँचावेंगे और आपके हृदयमें किसीके प्रति जलन नहीं होगी। कर्मकी एक बहुत बढ़िया कसौटी यह है

कि आप कोई काम करनेके पहले डरते हैं क्या ? यह तो नहीं सोचते कि कोई देख न ले अथवा किसीको मालूम न पड़ जाये। यदि ऐसा है तो कहीं-न-कहीं स्वार्थ जरूर होगा, भोग वासना भी जरूर होगी। अच्छी तरह परख लीजिये। करते समय यदि दिलमें जलन हो, हृदयमें आग जल रही हो तो समझ लीजिये आप गलत काम कर रहे हैं। अच्छा काम तो शान्तिदायक है। उससे दिल ठण्ढा होता है, काम करनेमें रस आता है स्वाद आता है। अपने हाथसे अपना काम करनेमें जो मजा है वह और कहीं नहीं। काम करनेके बाद अपनेको भी शीतलता मिले और जो उसे देखे, उसको भी शीतलता प्राप्त हो—**अन्तःशीतलतायां तु लब्धायां शीतलम् जगत्**। जब हमारे दिलमें ठण्ढक आ गयी तो सारी दुनिया ठण्ढी हो गयी, शीतल हो गयी। यदि हमारा दिल ठण्ढा नहीं हुआ, उद्विग्न है, गर्म है, तो सर्वत्र गर्मी-ही-गर्मी है। इसलिए अन्त:शीतलता आनी चाहिए। मनुजीने सारे वेदान्तका सार बताया है—**स वै सर्वमवाप्नोति वेदान्तोपगतं फलम्**। वेदान्तका फल किसको मिलता है—उसको मिलता है, जिसका हृदय शान्त है। कुर्वन्नपिका अर्थ है काम करते हुए भी **किं पुनः न कुर्वन्**—जो कर्म नहीं करते उनका कहना ही क्या। चाहे जितना भी काम करो, परन्तु यदि अपनेको सबकी आत्माके रूपमें अनुभव करके काम करोगे और जिस प्रकार अपनेको तकलीफ पहुँचाना नहीं चाहते, उसी प्रकार दूसरेको तकलीफ नहीं पहुँचाना चाहोगे तो कर्मका कोई अपराध नहीं होगा।

अरे समय हो गया। तो बस यहीं हाथ खींचते हैं। हमारे हरिबाबाजी बताते थे कि काम पूरा करना अपने हाथमें नहीं, समयपर कर्तव्य पालन करना अपने हाथमें है। बस, बात अधूरी रहे तो रहे। आज यहीं छोड़ते हैं आगे कल! ●

प्रवचन–५

भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनको यह हृदयंगम कराना चाहते हैं कि मनुष्य कर्म तो करे किन्तु कर्मसे लिप्त न हो। कर्म स्वयं जड़ है। चैतन्य आत्माके साथ इसका लेप होना किसी भी प्रकार सम्भव नहीं। चैतन्य आत्मा एक जन्मका कर्म दूसरे जन्ममें ले जाये या एक समयका कर्म दूसरे समयमें करे, ऐसा उसका सहज स्वभाव नहीं और न कर्ममें इतना सामर्थ्य है कि, वह आत्माके साथ लग जाये, जुड़ जाये। यह तो अविद्या महारानी ही कुछ ऐसा कर रही हैं कि जड़ कर्म भी चेतन आत्माके साथ, अपने विजातीयके साथ चिपकता हुआ मालूम पड़ता है। स्थान-स्थानमें, क्षण-क्षणमें, संकल्प-संकल्पमें कर्म छूटते जा रहे हैं, परन्तु फिर भी चेतन आत्मा समझता है कि हमने यह किया, हमने यह नहीं किया। हमने यह विहित किया, हमने यह निषिद्ध किया। इसका कारण यही है कि चेतन आत्मा अपनेको जड़ अन्तःकरणके साथ तादात्म्यापन्न करके जड़ कर्मको अपना कर्म समझता है और उसका अभिमान करके स्वयं आबद्ध हो जाता है। अतः कर्म करनेकी यह प्रणाली है कि मनुष्य कर्म तो करे, परन्तु उसके साथ आबद्ध न हो, लिप्त न हो। अर्जुन युद्ध तो करे, किन्तु युद्धके पाप-पुण्यके साथ अर्जुनका सम्बन्ध न हो—यह युक्ति भगवान् श्रीकृष्ण बताना चाहते हैं—

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥ (५.७)

मनुष्य-कुर्वन्नपि-काम करे, किन्तु कामसे लिप्त नहीं हो। यह कैसे होगा, तो इसके लिए उपाय बताया कि योगयुक्तः हो जाओ। बुद्धि खोकर काम नहीं करो, बुद्धि बनाये रखकर काम करो। संक्षेपमें बुद्धियोगको योग और सांख्ययोगको सांख्य कहते हैं। एक तो बुद्धि सावधान रहे, दूसरे विशुद्धात्मा अर्थात् अन्तःकरण शुद्ध रहे। मन स्वच्छ रहे, निर्मल रहे, अपने वशमें रहे, इन्द्रियाँ स्वच्छन्द विचरण न करें। इतनी बातें तो अपने लिए कहीं। फिर बोले कि अपनेको आपतक सीमित, परिच्छिन्न मत करो। अपितु—

सर्वभूतानाम् आत्मभूता आत्मा यस्य—सबकी आत्मा ही मेरी आत्मा है, इस निश्चयपर स्थिर हो जाओ। सर्वात्मभावको सुदृढ़ करनेपर ही किसीको हानि नहीं पहुँचाओगे। इसका अर्थ है कि इन्द्रियाँ उच्छृङ्खलतासे जो काम करती हैं उनका लेप होता है। मन वशमें न रखकर जो काम किया जाता है, उसका लेप होता है। अन्तःकरण अशुद्ध करके जो काम किया जाता है, उसका लेप होता है। बुद्धिकी असावधानीमें अपने-परायेका भेद रखकर, कुछको लाभ, कुछको हानि पहुँचानेके लिए जो कर्म होता है, उसका लेप होता है। अतः काम करनेमें बुद्धियोग, अन्तःकरणकी शुद्धि, मनका वशीकरण—इन्द्रियोंपर नियन्त्रण, सबकी भलाईकी भावना और सर्वात्मभाव अनिवार्य है। यदि यह बात ध्यानमें रहे तो मनुष्य चाहे कितना भी कर्म करे उससे वह (लिपायमान) लिप्त नहीं होता।

अब कर्म करनेकी दूसरी प्रक्रिया यह बताते हैं कि अभिमान नहीं होना चाहिए—

नैव किंचित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन् स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन् गच्छन् स्वपञ्श्वसन्॥

प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन् निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥
(५.८, ९)

मनुष्यके शरीरसे कर्म होता है। परन्तु यदि वह सावधान होकर देखे तो प्रतीत होगा कि उसके मूढ़ एवं तमोगुणी शरीरमें कुछ-न-कुछ क्रियाएँ होती रहती हैं। उसमें रक्तसंचार होता है, मलापसरण होता है, बाल और नाखून बढ़ते हैं। ये सब मूढ़ताके साथ-साथ यावद्द्रव्यभावी कर्म-कलाप हैं। तो फिर अभिमान किस बातका? मूढ़ता तमोगुण, विक्षेप रजोगुण और शान्ति सत्त्वगुण है। आत्मा न तो शान्तिका कर्ता है, न इसके लगाये समाधि लगती है, न इसके किये विक्षेप होता है और न इसमें मूढ़ता आती है। तो क्या होता है?

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।

प्रकृतिके गुणोंसे ही काम हो रहा है और जब गुणोंसे ही काम हो रहा है, तब उसको मैंने किया—यह अभिमान करना उचित नहीं।

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति॥
(१३.२९)

प्रकृतिसे ही सारे काम हो रहे हैं। प्रकृति किये बिना मानती नहीं। वर्षा समयपर होती ही है, दूब समयपर उगती ही है। इसमें हम क्या करते हैं? यदि मनुष्य कर्ता होता तो क्या कभी बीमार पड़ता? वह बीमारी क्यों बुलाता अपने शरीरमें? कहते हैं कोई-कोई ऐसे बुद्धिमान् हो सकते हैं कि कभी बीमार न पड़ें, यदि वे—**प्राप्यं विघातञ्च जानन्ति सुखदुःखयोः।** यह बात जान लें

कि हमको सुख-दुःख ऐसे मिलनेवाले हैं और सुखकी प्राप्तिका उपाय करें तथा जिससे दुःख मिलता है वह काम छोड़ दें। बोले कि ऐसे लोग भी हमारी मृत्यु न हो इसका उपाय नहीं जानते—**तेऽपि नैव विजानन्ति योगं मृत्युर्न प्रभवे यथा।** अच्छा जी, आप कर्ता हैं तो जान-बूझकर अपनी मृत्यु, बुलाते हैं? नहीं भाई मृत्युसे तो सब द्वेष करते हैं। एक मच्छर भी मृत्युसे द्वेष करता है, खटमल भी मृत्युसे द्वेष करता है, यहाँतक कि पेड़-पौधे भी मृत्युसे द्वेष करते हैं। अतः यदि मनुष्य स्वतन्त्र कर्ता होता तो मृत्यु इसके जीवनमें कैसे आती? सुख न चाहनेपर भी मिलता है, दुःख न चाहनेपर भी मिलता है। कभी-कभी तो रातमें ऐसा होता है कि खूब आनन्दसे सोनेपर भी सहसा नींद टूट जाती है और कोई विपरीत बात याद आ जानेसे तबियत घबरा जाती है। कभी-कभी बड़े दुःखकी स्थितिमें सोनेपर नींद टूटती है और ऐसी कल्पनाका उदय हो जाता है कि मन परमानन्दमें डूब जाता है। अतः किसी कारणसे ही सुख-दुःखकी कल्पना उत्पन्न होती हो अथवा हमारे बुलानेसे ही आती हो—यह बात नहीं। यह तो कुछ प्रकृति है और कुछ संस्कृति है। यह संस्कृति है कुछ उन आकृतियों अथवा विकृतियोंकी जो मनमें घूमती रहती हैं। यह प्रकृति है उस अन्तःकरणकी जो कुछ-न-कुछ सोचता रहता है। तो यह मान बैठना कि हम इस सम्बन्धमें स्वतन्त्र हैं, ठीक नहीं। आत्मा असंग है—यह बात दूसरी है। किन्तु कर्म कुछ तो गुणोंसे और कुछ प्रकृतिसे होते रहते हैं तथा कुछ-कुछ पंचायती भी होते हैं—

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥

अच्छे-बुरे सभी कर्म पाँच पदार्थोंके मिलनेसे होते हैं। उसमें

शरीर होना अनिवार्य है, नहीं तो आप उसके अभावमें क्या करेंगे ? एक आदमी है, उसका मन होता है कि हम अपने हाथसे काम करें। लेकिन हाथ ही नहीं अथवा पक्षाघात हो गया है और हाथ नहीं उठता तो वह कैसे करेगा ? केवल मनमें होनेसे कि हम यह काम करेंगे, नहीं होगा। उसके लिए जब करण होगा, औजार होगा तब कर्म होगा। अच्छा, हाथ भी हो, लेकिन मुर्देका हाथ हो तो वहाँ काम कैसे होगा ? फिर सब कुछ होते हुए भी करनेकी वृत्ति अथवा चेष्टा नहीं तो कर्म कैसे होगा ? यदि इन्द्रियोंके अनुग्राहक देवताओंका अनुग्रह प्राप्त नहीं, तो भी कर्म कैसे होगा ? आँख है, परन्तु रोशनी नहीं, तो वह कैसे देखेगी ? आँख हो, रोशनी भी हो, परन्तु आपका ख्याल न हो तो आप कैसे देखेंगे ? इसका मतलब यह है कि काम न केवल आपसे होता है, न आपकी इन्द्रियोंसे होता है और न किसी वस्तुके रहनेसे होता है। बल्कि जब सारा संयोग इकट्ठा होता है, तब काम होता है—**संघातस्य परार्थत्वात्**। जो काम पाँचको मिलाकर होता है, वह पाँचके लिए नहीं होता, किसी औरके लिए होता है। मोटर चलती है, उसमें पुर्जे बहुत हैं; परन्तु वह अपने लिए नहीं चलती, किसी दूसरेके लिए चलती है। ऐसी स्थितिमें जो यह मान बैठता है कि मैं मेरे लिए कर्म कर रहा हूँ, उसको दृष्टि प्राप्त नहीं—**न स पश्यति दुर्मतिः**। कर्म तो स्वभावके अनुसार ही होता है—**स्वभावस्तु प्रवर्तते**।

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥

(१८.५९)

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुंनेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥

(१८.६०)

मनुष्यको मजबूर होकर कर्म करना पड़ता है। कभी-कभी मनुष्य ऐसा काम करता है, जिसको उसकी बुद्धि स्वीकार नहीं करती। जिसके लिए न तो मनमें संकल्प होता है और न कोई परिस्थिति होती है, वैसा काम कर देना पड़ता है। कुछ काम ईश्वर-प्रेरित भी होते हैं—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।।

(१८.६१)

आपने नावको चलते हुए देखा होगा। उसपर बैठनेका भी काम पड़ा होगा। कभी-कभी मल्लाह उसे फिरकीकी तरह नचाता है। नृत्यकी गतिसे नाव नाचती है और उसपर बैठा हुआ आदमी भी नावके साथ नाचने लगता है। कौन नचाता है? मल्लाह। तो यन्त्र है नावकी तरह, उसपर बैठा है जीवात्मा और ईश्वर अपनी मायासे उसको नचा रहा है—**यन्त्रारूढानि मायया**। तो माया है, पंचायत है, द्रव्योंका समाज है, इन्द्रियोंका समाज है और प्रकृति है, गुण है, स्वभाव है। इसलिए कर्म केवल आपके करनेसे ही होता हो, यह बात नहीं और उसके कर्तापनका जो अभिमान है वह बिल्कुल झूठा है—

नैव किंचित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।

ज्ञान आवश्यक है। असलियतको समझना चाहिए। कठोर शब्दोंके आवरणमें ज्ञानको बाँध देनेसे वह कुछ ऊँचा हो जाता हो, ऐसी बात नहीं। हम कठिन-कठिन शब्दोंका प्रयोग करें और समझें कि हमारा ज्ञान बहुत ऊँचा है तो वह हमारा भ्रम है। वह तो कभी-कभी इतना खोखला होता है कि केवल शब्दाडम्बर ही रह जाता है और कभी-कभी सरल-सरल शब्दोंमें, बोल-चाल-

की भाषामें, इतना ऊँचा ज्ञान प्राप्त होता है कि वह लच्छेदार भाषामें कभी प्राप्त हो नहीं सकता।

सम्पूर्ण प्राणियोंके हृद्देशमें परमेश्वर विराजमान है। वही सबको चला रहा है—**भ्रामयन् सर्वभूतानि**। इसमें सभी दृष्टिकोण आ जाते हैं। आस्तिक दृष्टिकोणसे ईश्वर अपनी माया द्वारा सृष्टि चला रहा है। नास्तिक दृष्टिकोणसे प्रकृति चला रही है और सांख्यकी दृष्टिसे गुण और प्रकृति दोनों चला रहे हैं। दूसरे शब्दोंमें स्वभाववादियोंकी दृष्टिसे स्वभाव, प्रकृतिवादियोंकी दृष्टिसे प्रकृति, गुणवादियोंकी दृष्टिसे गुण और ईश्वरवादियोंकी दृष्टिसे ईश्वर चला रहा है। इसका मतलब यह निकला कि मैं नहीं कर रहा। कर्ममें फलदानकी योग्यता तब आती है, जब वह इस अपेक्षा-बुद्धिसे किया जाता है कि यह पूरा हो जाये और इसका अमुक फल हमारे पास आ जाये। देखो, हम अपनी आँखोंसे हररोज हजारों आदमी देखते हैं, परन्तु उनकी याद नहीं आती। किन्तु जब हम किसीको प्रेमसे, घृणासे या द्वेषसे देख लेते हैं तब वह केवल जागृत अवस्थामें ही नहीं, स्वप्नमें भी याद आता है। वास्तवमें हमारे मनमें जो यह अपेक्षा होती है कि अमुकसे हमको यह मतलब है, यह लाभ उठाना है, यह स्वार्थ सिद्ध करना है तो उसीकी याद आती है और जिससे परहेज होता है, जिसको हम अपनी आँखके सामने आने देना नहीं चाहते उसकी भी याद आती है। जिसको हम चाहते हैं, वह भी दिलमें घुसता है और जिसको नहीं चाहते, वह भी दिलमें घुसता है। दूसरी सारी दुनिया, जिससे हमें कोई अपेक्षा नहीं होती, हमारे दिलमें नहीं घुसती। कर्मोंके सम्बन्धमें भी यही बात है। आपको वही कर्म लगेंगे जिनसे आपका राग होगा या जिनसे आप ग्लानि करेंगे, घृणा करेंगे। बनारसमें एक सज्जन बड़े धर्मात्मा थे। तीन समय

तो शंकरजीकी पूजा करते। पच्चीस-पचास वर्षोंतक वहाँ रहे। लेकिन उनको मुस्लिम मान्यताके अनुसार जिन्दका आवेश होता था और वे उस समय कुरानकी आयतें बोलने लगते थे। किसीने श्री उड़िया बाबाजी महाराजसे पूछा कि इतने पवित्रात्मा और धर्मात्माको जिन्दका आवेश क्यों होता है? तो उन्होंने उत्तर दिया कि वह इस्लाम-मजहबसे, उनके अनुयायिओंसे और उनकी बातोंसे इतनी घृणा करता है कि वे सारी बातें उसके दिल-दिमागमें बैठ गयी हैं, अब वही निकलती हैं। तो जिस प्रकार आप प्रेम करके कई वस्तुओंको अपने दिलमें बसा लेते हैं, उसी प्रकार ग्लानि, घृणा, द्वेष, हिंसा और द्रोह करके भी कई वस्तुओंको अपने दिलमें बैठा लेते हैं। इसीलिए कबीरदासजी कहते हैं—

बडी मार कबीरकी चितसे दिया उतार।

जिस चीजको आप अपने दिलमें नहीं बसाना चाहते, उसको चित्तसे उतार ही दीजिये। उससे घृणा भी मत कीजिये, द्वेष भी मत कीजिये, ग्लानि भी मत कीजिये और उसको अपने ध्यानमें भी मत लाइये। जिस रास्ते जाना नहीं, उसकी याद करके क्या करना है? आप यदि बुराइयोंकी याद करेंगे तो बुराइयाँ आपको पकड़कर नरकमें ले जाएँगी और कहेंगी कि जरा देख लीजिये, हमारा क्या फल है? इसी तरह आप अच्छाइयोंसे राग करेंगे, मुहब्बत कर बैठेंगे तो अच्छाइयाँ भी आपको स्वर्गमें ले जायेंगी। लेकिन आप जानते हैं स्वर्गका क्या फल होता है? **स्वर्ग स्वल्प अन्तहु दुःखदाई।** इसलिए आपको नरक और स्वर्गसे बचना हो तो अच्छाई और बुराई दोनोंसे तटस्थ होकर अपने आपमें बैठिये, आत्मस्थ हो जाइये—

नैव किंचित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।

तत्त्वका अर्थ है, वह असलियत जिसमें हम अपना रंग नहीं

भरते। आकाशमें न तो कोई कोण बनता है और न रंग भरा जाता है। परन्तु हम यदि उसमें मानसिक चतुष्कोण बनाकर उसमें रंग भर दें कि यह हरा है, यह नीला है, यह पीला है, यह लाल है तो उसका दर्शन वैसा ही होने लग जायेगा। हमारे शास्त्रोंमें लिखा है कि मरी हुई स्त्रीका भी दर्शन होता है—**नष्टवनितासाक्षात्कारवत्**। मरी हुई स्त्री पतिके मनमें बसी हुई होती है। वह रातको जब घरमें अकेला होता है तो उसके दर्शन होते हैं। रास्तेमें चलते हुए प्रतीत होता है कि वह उसको छू गयी! इसी तरह इस संसारकी वस्तुएँ केवल अपेक्षा करनेसे, रिश्ता जोड़नेसे ही, अपने साथ जुड़ती हैं। कर्म भी आपके साथ तभी जुड़ता है, जब आप—**अहं करोमीति वृथाभिमानाः**। उसके साथ अपने कर्तृत्वका मिथ्याभिमान जोड़ लेते हैं। तुमने अपना हाथ बनाया? नहीं यह तो बना बनाया है। तुमने जीभ बनायी। नहीं, यह भी बनी बनायी है। तुमने मिट्टी बनायी, पानी बनाया, पेड़ बनाया, पौधा बनाया? यह जो (Pulse) नाड़ी चलती है, तुमने बनायी? यह रक्त तुमने बनाया? जब तुम्हारा बनाया हुआ कुछ नहीं, तब कैसे मानते हो कि यह मेरा है। यदि कोई वस्तु केवल उपयोगके लिए मिले तो उसको अपनी मान लेना ठीक नहीं। अपनेपनके मिथ्याभिमानका निवारण आवश्यक है। इसके लिए तत्त्वज्ञान चाहिए। तत्त्व उसको बोलते हैं जो अनारोपिताकार हो, जिसमें कोई आकार न बना हो। आकार तत्त्व नहीं। जैसे स्वर्णमें जो आकार बनता है, कंगन बन जाता है, कुण्डल बन जाता है, हार बन जाता है, वह स्वर्ण तत्त्व नहीं होता। यद्यपि वह होता है स्वर्ण ही, तथापि कंगन, हार, कुण्डल आदि निर्मित आकारोंके नाम रखे हुए होते हैं। सोनेमें आकारका आरोप किया जाता है। वास्तविक सोना तो वह है, जिसमें कोई आकार आरोपित ही नहीं। वह सिल्ली भी नहीं, चूर्ण भी नहीं,

द्रव भी नहीं, वह तो तेजस् तत्त्व है। तेजस् तत्त्व भी ऐन्द्रियक नहीं। वस्तुतः स्वर्ण तो अधिष्ठान ब्रह्ममें केवल कल्पना मात्र है। उसकी कोई स्वतन्त्र सत्ता परब्रह्म परमात्मामें नहीं। इस प्रकारके तत्त्वज्ञानको जाननेवालेका नाम है तत्त्ववित् ओर जो उसमें निष्ठावान् होते हैं वे युक्त कहलाते हैं। युक्त शब्द गीताके दूसरे अध्यायमें ही आ गया है—**युक्त आसीत मत्परः**। तात्पर्य यह है कि परमात्मामें निष्ठावान् होकर बैठ जाओ, स्थिर हो जाओ।

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।

जब चित्त विनियत होकर अपने-आपमें बैठ जाता है और कर्ममें अकर्म तथा अकर्ममें कर्म दिखायी देने लगता है तब उसका नाम युक्त होता है—

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
(६.८)

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
(४.१८)

युक्त करते हुए भी नहीं करता, नहीं करते हुए भी करता है। यह इसकी माया है। जो तत्त्ववित् पुरुष है, उसको युक्त रहकर देखना चाहिए कि यह कर्म न मेरा है और न मैं इस कर्मका हूँ। मेरा और कर्मका कोई सम्बन्ध नहीं। **नैव किञ्चित् करोमि**—मैं कुछ भी नहीं करता। किन्तु इस कुछ भी न करनेका मतलब यह नहीं कि चुप होकर बैठ जाओ। नहीं, इसका तात्पर्य यह है कि सबकाम होता रहे और 'मैं कुछ भी नहीं कर रहा'—यह भावना बनी रहे।

पश्यञ्शृण्वन् स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन् गच्छन् स्वपञ्श्वसन्।

देखना आँखोंका चमत्कार है, सुनना कानोंका चमत्कार है।

अगर कानमें शब्द ग्रहण करनेकी शक्ति न होती तो उन शब्दोंको आप कैसे सुनते ? यह तो आपने अपने भीतर जो फिल्म भर रखी है, उसका चमत्कार है। आकाशमें जो प्रकाश फैल रहा है, वह फिल्म है, केवल दिखावटी चीज है. उसके भीतर कुछ नहीं। तो देखते हुए भी मैं देख नहीं रहा, सुनते हुए भी मैं सुन नहीं रहा और छूते हुए भी मैं छू नहीं रहा। इस तरहसे जितने कर्म होते हैं—जिघ्रन्, अश्नन्, गच्छन्, स्वपन्, श्वसन्—अर्थात् सूंघते हुए भी, खाते हुए भी, चलते हुए भी, सोते हुए भी, सांस लेते हुए भी—मैं कुछ नहीं करता। 'मैं कुछ नहीं कर रहा' से ज्ञानेन्द्रियोंका काम भी है और कर्मेन्द्रियोंका काम भी है।

प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन् निमिषन्नपि।

पलकोंको उठाना और गिराना क्या हमारा काम है ? मैंने ऐसा देखा है कि कभी बोलनेका मन नहीं होता और बोला जाता है। कभी बोलनेका मन होता है और जीभ नहीं खुलती। एक बार मैं लेटा हुआ था। लेटे-लेटे शरीरकी विचित्र स्थिति हो रही थी कि मेरे सामने एक बहुत बड़े महापुरुष आकर खड़े हो गये। सचमुच ठोस दुनियाके महापुरुष जो उस समय धरतीपर जीवित थे। मैं तो पलंगपर लेटा हुआ और वे सामने आकर खड़े हुए। मेरे मनमें आया कि अरे ये आ गये, उठना चाहिए। अब मैं उठनेकी कोशिश करूँ तो शरीर न उठे। मैंने सोचा कि बोलकर प्रणाम करें तो बोला नहीं गया। हाथ जोड़ना चाहा तो हाथ नहीं जुड़े। सिर झुकाना चाहा तो सिर भी नहीं झुका। सिरको ऊपर उठाना चाहा तो ऊपर भी नहीं उठ सका। न सिर ऊपर उठे न नीचे झुके, न हाथ उठे और न जीभ हिले। मैं देख रहा हूँ कि वे महापुरुष सामने खड़े हैं और मैं लेटा हुआ हूँ। मेरी अशिष्टतापर वे हँस दिये, समझ गये कि मैं बिल्कुल बेकार हो

गया हूँ, अवश हो गया हूँ वे हँसते जाते थे और मैं उनके सामने पलंगपर पड़ा हुआ था। अब सवाल पैदा होता है कि यदि मैं करनेवाला हूँ तो मुझे उनके सामने उठ जाना चाहिए था। परन्तु बिल्कुल उठा न गया। इसी प्रकारको एक और घटना आपको सुनाता हूँ। सम्भव है, आपके जीवनमें भी यह अथवा इससे मिलती-जुलती घटना घटित हुई हो। मुझे एक बार हँसी आयी। ऐसी हँसी आयी कि मेरे चाहनेपर भी हँसना बन्द ही न हो। दस मिनट बीते, पन्द्रह मिनट बीते, बीस मिनट बीत गये, हँसी बन्द नहीं हुई। लगा कि यही हाल कुछ देर और रहा तो शरीर छूट जायेगा। शरीरपर काबू ही नहीं रहा। सब घबरा गये। परन्तु मेरे एक मित्रको जब यह भान हुआ कि मेरे प्राण संकटमें हैं तब उन्होंने जोरका एक चाँटा मेरे गालपर मारा। बस, चाँटा मारते ही मेरी हँसी समाप्त हो गयी और गुस्सा आ गया। उन्होंने कहा कि तुम बच गये। अब तुम्हें गुस्सेमें जो कुछ कहना हो, कह लो। इन घटनाओंके उल्लेखका आशय यही है कि एक ओर हम इतने विवश हैं और दूसरी ओर अभिमान इस बातका करते हैं कि हम वक्ता हैं अथवा हम मौनी हैं। हमारा यह अभिमान व्यर्थ नहीं तो और क्या है?

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्।

इन्द्रिय अपने विषयोंमें बर्तते हैं—इसका अर्थ यह है कि आँख तो रूप देखेगी ही, आप अपना भाव भले बदल लो कि मैं देख रहा हूँ या नहीं देख रहा। आप जब मन्दिरमें मूर्तिका दर्शन करते हैं तब आपके मनमें क्या भाव होता है? मूर्ति आपके सामने होती है और आँख आपके शरीरमें। आँखसे मूर्ति दिखती है और आप कहते हैं कि हमें परमेश्वरका दर्शन हो रहा है। आपके मनमें परमेश्वर है तभी आपको परमेश्वरका दर्शन हो

रहा है और आपके मनमें परमेश्वर नहीं तो पत्थरका दर्शन हो रहा है। मानो तो तीर्थं नहीं तो पानी—ऐसी स्थिति है। इसी प्रकार जब में देखता हूँ ऐसा अभिमान होता है तब अपने पास देखनेका पाप-पुण्य आ जाता है। जहाँ मैं देख रहा हूँ—यह अभिमान नहीं, वहाँ देखनेका पाप-पुण्य नहीं लगता। आँखें रूप देखती हैं, कान शब्द सुनते हैं, नासिका गन्ध सूँघती है। किन्तु कितने ही दृश्य, शब्द और गन्ध आते-जाते रहते हैं। कई बार लोग आँख, कान, नाक बन्द कर लेते हैं और कई बार खुली आँख, खुले कान और खुली नाकसे सब कुछ देखते, सुनते, सूँघते और सांस लेते निकल जाते हैं। उनका कोई सम्पर्क ही नहीं बनता। तो ज्ञानकी साधनासे अपने मनमें यह धारणा बनायी जाती है कि सब कुछ होता हुआ भी नहीं हो रहा। देखा, सुना, सूँघा जाता हुआ भी देखा, सुना, सूँघा नहीं जा रहा।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥

(५.१०)

आप अपने कर्मको कहीं रख दो, उससे नाता मत जोड़ो, ठीक वैसे ही जैसे कबीरजी बोलते थे—

सो चादर सुर-नर-मुनि ओढ़ी
ओढ़िके मैली कीन्हि चदरिया।
दास कबीर जतन से ओढ़ी
ज्यों-की-त्यों धरि दीन्हि चदरिया॥

जिस प्रकार चादर ओढ़ी और रख दी, उसी प्रकार शरीरको काममें लिया और छोड़ दिया। कई महात्माओंके बारेमें ऐसा सुननेमें आता है कि उन्होंने शरीरको जहाँ-का-तहाँ छोड़ दिया और स्वयं अपने स्वरूपमें मगन हो गये। यहाँ प्रश्न उठता कि

हम अपने कर्मको कहाँ रखें ? उत्तर है कि कर्म शरीरसे करते रहिये। निकम्मापन तो किसी भी दृष्टिसे उचित नहीं। क्योंकि जो निकम्मा हो जाता है, उसके जीवनमें आलस्य, प्रमाद आदि तमोगुण आ जाते हैं—बुराइयाँ आ जाती हैं। अतः उनसे बचे रहनेके लिए कर्म कीजिये, किन्तु ऐसे कीजिये कि कर्मको ब्रह्ममें रख दीजिये। ब्रह्ममें अर्थात् अनन्ताकाशमें, चिदाकाशमें। अनन्ताकाश, चिदाकाश ब्रह्म—प्रत्यक् चैतन्याभिन्न अर्थात् अपने आपसे अभिन्न है। उसीमें कर्म होते हुए दिखायी पड़ रहे हैं। आप जब आकाशमें बादल देखते हैं तो उन बादलोंका रंग आकाशको लगता है क्या ? बादलोंका रूप-रंग, बनना-बिगड़ना, होना न होना, आकाशके ऊपर कोई प्रभाव नहीं डालता। हम लोग बचपनमें बादल देखते तो कहते कि देखो वह शेर है, वह हाथी है, वह घोड़ा है, वह बारात जा रही है, वह डोली जा रही है, वह दूल्हा है, वह दुल्हिन है, वह गौरीशकर हैं, वह सीताराम हैं आदि-आदि। आसमानमें बादलोंके जो टुकड़े दिखायी पड़ते, उनमें अपनी कल्पित आकृति बैठा देते और वह वैसी ही दिखायी पड़ने लगती। आज भी बादलोंका अवलोकन करनेपर वैसा ही दिखायी पड़ सकता है। किन्तु हम चाहे जिस आकृतिकी कल्पना करें, आकाशमें कुछ है ही नहीं। इसी प्रकार संसारके सभी कर्म किसी-न-किसी अपेक्षासे होते हैं, किन्तु निरपेक्ष सत्यमें, परमात्मामें इनकी कोई स्थिति नहीं। यदि यह कहो कि कर्म भले ही अनन्तमें हो परन्तु हमारे साथ जो जुड़ जाते हैं, उसका हम क्या करें ? तो इसका उत्तर है कि—सङ्गं त्यक्त्वा। असंग होकर कर्म करो। आप रास्तेमें चलते हैं तो आपके सामनेसे हजारों आते जाते हैं, किन्तु किसके साथ आपकी आसक्ति होती है ? आप यह बात बिल्कुल निश्चित समझो कि जैसे घड़ीमें सेकेण्ड बीतते हैं, मिनट बीतते हैं, पर उसकी सूई किसी सेकेण्ड या

मिनटसे चिपकती नहीं चलती रहती है, वैसे ही आपका जीवन भी किसी क्षण या कालखण्डके साथ चिपका नहीं रहता। आपका जीवन किसी वार, तिथि या मासमें बँधता नहीं, चाहे उसमें कोई भी महत्त्वपूर्ण घटना क्यों न घटित हुई हो। आपका जीवन तो समयके साथ बीतता जा रहा है और कहीं किसीमें आसक्त नहीं होता। यह जो समयका विभाग है, यह बिल्कुल काल्पनिक है। हम जो दिन, रात, पक्ष, मास अथवा वर्षका बँटवारा करते हैं वह अपने सामनेकी वस्तुओंसे ही करते हैं। संस्कृतमें समय शब्दका यही अर्थ होता है कि जो दूसरेके बीतनेसे बीत जाता है—**समं यातीव, केनचित् समं याति।** यह किसी-न-किसीके साथ चला जाता है। जैसे बचपनका समय गया, जवानीका समय गया, बुढ़ापेका समय गया। इस तरह यह जो बीतता हुआ समय है इसमें आप किससे चिपकना पसन्द करते हैं? ऐसा कभी हो नहीं सकता कि आप किसी समयके साथ चिपके रह जायें, समय आपके साथ चले अथवा आप समयके साथ चलें। यही बात स्थानके सम्बन्धमें है। न आपका पूर्वसे प्रेम है, न पश्चिमसे। हम आपसे पश्चिम बैठे हैं लेकिन जो हमारे पीछेकी तरफ हैं उनसे पूर्व हैं। नीचेसे ऊपर हैं और ऊपरसे नीचे हैं। यह मध्य भी नहीं। एक अपेक्षासे मध्य है, दूसरी अपेक्षासे सिरा है। वास्तवमें न यह ऊपरका स्थान है, न नीचेका, न पश्चिमका, न पूर्वका, न उत्तरका, न दक्षिणका और न किसी कोणका। यह तो अपनी अपेक्षासे ही मान लेते हैं कि हम कहाँ बैठे हैं? जैसे हम किसी स्थानमें नहीं चिपकते, क्षणमें नहीं चिपकते और किसी दिनमें नहीं चिपकते, उसी प्रकार हम किसी वस्तु अथवा किसी कर्ममें भी नहीं चिपकते। कोई भी वस्तु ऐसी नहीं, जो हमारे साथ जुड़ जाये, चिपक जाये। यह तो केवल मनकी कल्पना है। यहाँ तक कि मानसिक अवस्था भी दूसरी अवस्थामें नहीं जाती।

जाग्रदवस्था क्या स्वप्नमें जाती है? स्वप्नावस्था क्या जाग्रत्में आती है? जाग्रत्, स्वप्न या सुषुप्तिमें आते हैं? ये सब अलग-अलग हैं। यह केवल संग है, हमारे मनकी आसक्ति है। पहले तो अविद्याके कारण हम किसी वस्तुको समझते नहीं, फिर उसे स्थिर समझकर उसके साथ अपनेको जोड़ देते हैं। सृष्टिमें कितने उत्थान-पतन हुए, बड़े-बड़े चक्रवर्ती सम्राट् आये-गये परन्तु क्या अपनी धरतीको अपने साथ ले जा सके? सोनेकी लंका बनी, पर क्या रावण उसके साथ रह सका? जैसे क्षण, कण, अथवा परमाणुओंके साथ हमारी आसक्ति नहीं होती, वैसे ही संसारके पदार्थोंके साथ भी हमारी आसक्ति नहीं होनी चाहिए। जो परमाणु आकाशमें टिकते नहीं हिलते रहते हैं, उन्हीं परमाणुओंसे बनी हुई यह सृष्टि क्या टिक जायेगी? भागवतके माहात्म्यमें एक बड़ी विचित्र बात आयी है। प्रातःकाल जो भोजन बनाते हैं, वह सायंकाल ठंडा हो जाता है, खाने लायक नहीं रहता। कई-कई तो ऐसे शौकीन होते हैं कि तवेपरसे उतरकर गरम-गरम रोटी आती है तभी खाते हैं। हमने अपनी आँखसे देखा है, रोटी थालीमें परसी गयी और उठाकर पटक दी गयी। कहा गया कि इतनी ठण्डी रोटी क्यों लाये? अब आप सोचिये कि रोटीको आप बराबर गरम कैसे रख सकते हैं? उसको पेटमें डालकर भी गरम ही रखेंगे क्या? इस संसारको जो हम अपने मनके अनुसार पकड़कर रखना चाहते हैं वह सम्भव नहीं, इसलिए **सङ्गं त्यक्त्वा**—इसको छोड़ते चलो।

हमारे एक मित्र हैं उनके घरमें जगह-जगह लिखा हुआ है कि 'यह भी नहीं रहेगा, यह भी नहीं रहेगा।' यही वास्तविकता है। वास्तवमें न ये क्षण रहेंगे, न कण रहेंगे, न परमाणु रहेंगे। यह मन भी नहीं रहेगा। सिनेमामें मालूम पड़ता है कि अमुक दृश्य पाँच मिनटतक लगातार रहा, परन्तु वह पाँच मिनट तो क्या

पाँच सेकेण्ड भी नहीं रहता। इसीका नाम बिल्म है। निरुक्तमें इसके लिए बिल्म शब्द आया है। यह तो बाहरी आवरण है, असलियत बिल्कुल दूसरी है। अतः जो बुद्धिमान् पुरुष होता है वह किसी भी वस्तुमें संग नहीं जोड़ता। चलके साथ अचल कभी जुड़ नहीं सकता, मिथ्याके साथ सत्य कभी जुड़ नहीं सकता। एक चल वस्तु अचलके साथ कैसे जुड़ सकती है? आकाशकी नीलिमा आकाशको कैसे रंग सकती है? क्योंकि वह तो है ही नहीं। जब हवाई जहाजमें चलते हैं, तब जैसे क्षितिज ऊपर दीखता है या दाहिने-बायें दीखता है, इसी प्रकार वह नीचे भी दीखता है। नीलिमाकी गहराई धरतीसे भी ज्यादा, ऊपर जानेपर दीखती है। ऊपरसे धरतीमें भी क्षितिजका दर्शन होने लगता है। यह सब क्या आकाशमें है? अस्तु;

लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा।

जो छूट रहा है, उसे छूट जाने दो। जो आ रहा है, उसे आ जाने दो। 'सङ्गं त्यक्त्वा'का अर्थ है न सटाओ और न हटाओ। यदि आप अच्छी चीजको पास नहीं आने दोगे तो पाप लगेगा और चाहोगे कि वह चीज बराबर तुम्हारे साथ बनी रहे, सटी रहे तो भी अनर्थ होगा। ईश्वरकी वस्तुको, प्रकृतिकी वस्तुको, मायाकी वस्तुको सटाने-हटानेमें लग जाओगे तो भी पाप लगेगा। यदि आप यह ध्यान रखते हैं, जानते हैं कि अमुक वस्तु न रहनेवाली है, न हम इसके साथ जुड़नेवाले हैं, यह तो आयाराम—गयाराम है, तब ठीक है। फिर तो आपको कोई पाप नहीं लगेगा। पाप क्या है? हो कुछ और समझ लिया जाये कुछ यही पाप है। सबसे बड़ा पाप भ्रम है। वाल्मीकिरामायणमें यह प्रसंग आया है—

योऽन्यथा सन्तमात्मानं अन्यथा प्रतिपद्यते।

अर्थात् 'मैं देह नहीं, परन्तु अपनेको देह मानना पाप है। मैं कर्ता नहीं, परन्तु अपनेको कर्ता मानना यह पाप है। मैं परिच्छिन्न नहीं, परन्तु अपनेको परिच्छिन्न मानना पाप है। मैं ईश्वरका अंश हूँ तो अपनेको ईश्वर न मानना पाप है।' **चित्तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा।** संसारमें सब-के-सब पाप अन्यथा भावके ही पाप हैं। सचको झूठ समझना और झूठको सच समझना—इसका नाम पाप है। इसलिए जिज्ञासुको चाहिए कि वह अपने अज्ञानका निवारण करे और काम करता जाये।

कायेन मनसा बुद्धचा केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥
(५.११)

योगी लोग शरीरसे काम करते हैं, परन्तु मैं करता हूँ—ऐसा नहीं कहते। मनसे भी काम करते हैं, परन्तु मैं करता हूँ—ऐसा नहीं कहते। बुद्धिसे भी काम करते हैं किन्तु कर्तृत्वाभिमान नहीं करते। उनके शरीरसे क्रिया होती है, मनसे संकल्प होता है, बुद्धिसे विचार होता है और इन्द्रियगणसे देखना-सुनना आदि होता है। योगी लोग 'केवलेन कायेन, केवलेन मनसा, केवलया बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि' काम तो करते हैं परन्तु उनको किसी काममें आसक्ति नहीं होती। फिर वे काम कैसे करते हैं? शुद्ध संकल्पपूर्वक करते हैं। किसी भी कर्ममें कोई-न-कोई संकल्प होना चाहिए। सबसे बड़ा संकल्प हेमाद्रिसंकल्प होता है। विद्वान् ब्राह्मणोंको अपने यजमानोंसे वह संकल्प बुलवानेमें आध-पौन घण्टा लगता है। उसको महासंकल्प भी बोलते हैं। आप भी कर्म तो कीजिये—शरीरसे, मनसे, बुद्धिसे, इन्द्रियोंसे—परन्तु उसके पीछे जो संकल्प है उसपर ध्यान दीजिए। संकल्प क्या है? कोई सकल मनोरथ सिद्ध्यर्थं संकल्प करते हैं, कोई आरोग्य-

दीर्घायुके लिए करते हैं, कोई लक्ष्मी देवीकी प्राप्तिके लिए करते हैं, कोई अपना कर्तव्य समझकर करते हैं और कोई भगवत्प्राप्तिके लिए करते हैं। कर्तव्यमें कर्तृत्व जुड़ता है और भगवत्प्राप्तिके लिए कर्म करनेपर यह बात मनमें आती है कि कर्मकी साधनासे भगवान् मिल जाएँगे। आप देखना, सारी गीतामें भगवान्के लिए कर्म करनेपर जोर दिया गया है **मदर्थं कर्म कौन्तेय** में मदर्थंका क्या अर्थ है ? इससे भगवान् मिलेंगे ? मदर्थंका यह अर्थ है कि हम जो कर्म कर रहे हैं, इसका फल भगवान्को मिले। भगवान्को देनेके लिए जो कर्म किया जाता है वही 'मदर्थं कर्म' होता है। भगवान्को पानेके लिए जो कर्म होता है, वह 'मदर्थं कर्म' नहीं होता। भगवान् वादा भी करते हैं तो यही कि हम तुमको कर्म-बन्धनसे छुड़ा देंगे।

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥ ९.२८॥

भगवान् कहते हैं कि तुम कर्म करो, किन्तु अपने लिए नहीं, मेरे लिए ऐसा करोगे तो तुम कर्म-बन्धनसे छूट जाओगे। इसका तात्पर्य यह है कि मैं तो कर्मबन्धनमें आनेवाला नहीं, तुम आने-वाले हो। इसलिए तुम्हें कर्मबन्धनसे छूटनेकी आवश्यकता है। गीतामें यह बात समझनेकी है।

सङ्गं त्यक्त्वा का अर्थ है कि कर्मका संग मत करो। नर्मदा मिले तो उसमें भी स्नान करो, गंगाजी मिलें तो उसमें भी स्नान करो। शिवको भी हाथ जोड़ो, देवीको भी हाथ जोड़ो। रामको भी हाथ जोड़ो, विष्णुको भी हाथ जोड़ो, किन्तु सबके भीतर जो एक तत्त्व है उसका स्मरण रक्खो। किसी भी विषयकी प्राप्तिमें आसक्ति न हो, देहमें भी आसक्ति न हो। सबसे अधिक आसक्ति

अपनी मान्यताओंमें होती है। इसीके लिए मजहबी लोग आपसमें लड़ते हैं। उनकी आपसी लड़ाईका एकमात्र कारण अपनी मान्यताओंमें आसक्ति और दृढ़ आग्रह होता है। राग, द्वेष, घृणा, द्रोह आदि मनमें क्यों आते हैं? सङ्गके कारण ही आते हैं। आसक्तिके कारण ही आते हैं। जिसकी कहीं आसक्ति नहीं, उसके लिए कहीं बन्धन नहीं।

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥ (५.१२)

कर्मफलमें आसक्ति न हो इसके लिए सावधान रहो—**युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा**। कर्मफल न चाहनेपर नैष्ठिकी शान्ति मिलेगी। मेरे पास आनेवाले लोग कभी-कभी बोलते हैं—महाराज! हमारे मनमें कोई इच्छा नहीं, परन्तु अशान्ति बहुत है। इसका वदतोव्याघात दोष बोलते हैं। जिसके मनमें इच्छा नहीं होगी, उसको अशान्ति कैसे होगी? ज्ञान पाना चाहते हो, ईश्वर पाना चाहते हो, किसी अप्राप्त वस्तुको प्राप्त करना चाहते हो, तब अशान्ति हो सकती है। किन्तु जिसको कुछ पाना नहीं, उसके मनमें अशान्ति होनेका कोई कारण नहीं।

प्रवचन–६

जैसा कि पहले एक या अनेक बार कहा जा चुका है, यदि भगवान् अपने शरणागतका मनोरथ पूरा न करें तो उनकी भक्ति कोई क्यों करेगा ? भक्तिमें भगवान् भक्तका पक्षपात अवश्य करते हैं। सबके प्रति सम होते हैं, किन्तु भक्तके प्रति पक्षपाती होते हैं। यही ईश्वरकी ईश्वरता है। भगवान् कृपा करके कर्म करनेकी प्रेरणा दे रहे हैं। यदि कोई कहे कि जो महात्मा योगी अथवा संन्यासी हैं उन्हें कर्म करनेकी आवश्यकता नहीं, तो यह ठीक नहीं। गीताके अनुसार बड़े-बड़े योगी लोग भी कर्म करते हैं—**योगिनः कर्म कुर्वन्ति**। संसारी लोग, साधक लोग तो कर्म करते ही हैं, योगी लोग भी कर्म करते हैं। किन्तु योगियोंके कर्म आत्मशुद्धिके लिए होते हैं। देखिये स्नानका मन तो पशु-पक्षियोंका भी होता है। काम जो किया जाता है, वह शरीरमें कालिख लगानेके लिए नहीं, छुड़ानेके लिए होता है। शरीरमें कालिख लगायी नहीं जाती, लग जाती है और जब लग जाती है तो उसको छुड़ानेके लिए मनुष्यको कर्म करना पड़ता है। हमारे जीवनमें जो मलिनता लग गयी है उसको दूर करनेके लिए कर्म करनेकी आवश्यकता होती है। इसलिए कर्मका संकल्प आत्मशुद्धये होना चाहिए। अपने आपकी, आत्माकी शुद्धिके लिए कर्म करना चाहिए। शरीरमें मैल लगा हो तो उसको छुड़ानेके लिए थोड़ी मैल और लगा लेते हैं। यह जो मैल धोनेके लिए साबुन लगाया जाता है वह मैल ही तो है। परन्तु साबुनकी मैल ऐसी है जो पहलेकी लगी मैलको खींच लेती है और फिर धो देनेपर

दोनों मैल एक साथ छूट जाती है। इसी तरह कर्म किया जाता है आत्म-शुद्धिके लिए—**आत्मशुद्धये कर्म कुर्वन्ति।** हमारे पास बहुत-से लोग ऐसे आते हैं जो कहते हैं—स्वामीजी! हमें ईश्वरका दर्शन हो जाये। कुछ ऐसे भी मिलते हैं जो कहते हैं कि समाधि लग जाये। संसारके भोग चाहनेवाले तो बहुत आते हैं। लेकिन कोई यह प्रार्थना नहीं करता कि हमारा अन्तःकरण शुद्ध हो जाये। ऐसा चाहनेवाला सालभरमें शायद ही कोई आता हो। मनुष्यको अपने जीवनमें जो मलिनता है वह खटकती नहीं। जब जीवनकी मलिनता अपने आपको खटकने लगेगी और उसको शुद्ध करनेकी इच्छा होगी, तभी हम ठीक-ठीक कर्म कर सकेंगे। यह प्रश्न नहीं कि आप कर्मको कितनी गम्भीरतासे करते हैं। प्रश्न यह है कि आप किसके लिए कर्म करते हैं? शरीरके कर्मके लिए, मनके कर्मके लिए, अथवा बुद्धिके कर्मके लिए? ये सब कर्म ही हैं। इसीसे कर्मयोगी लोग कहते हैं कि वेदान्ती जो विचार करते हैं, बुद्धिसे सोचते हैं वह भी तो एक प्रकारका कर्म ही है। वह भी एक बौद्धकर्म है। बैठकर चिन्तन करना क्या कर्म नहीं? वह बुद्धिका कर्म है। तो केवलेन कायया, केवलेन मनसा, केवलेन वाचा, केवलेन बुद्ध्या कर्म भी होते हैं। कई लोग सबको एकमें समवेत करके ऐसा काम करते हैं, जिसमें शरीर भी होता है, मन भी होता है, वाणी भी होती है और बुद्धि भी होती है। कुछ लोग केवल इन्द्रियोंसे ही काम करते हैं। कर्म कैसे भी हो उसे करनेमें एक होशियारी रखनेकी जरूरत है। पहले तो उद्देश्य स्पष्ट होना चाहिए कि हम किसलिए यह कर्म कर रहे हैं? यदि उद्देश्य स्पष्ट नहीं तो कर्म किधर ले जायेगा? आपकी मोटर चल रही है; परन्तु आप कहाँ पहुँचना चाहते हैं, यह बात आपके मनमें साफ नहीं, तो मोटर बेचारी आपको कहाँ पहुँचायेगी? इसी प्रकार आप हाथ-पाँव हिला रहे हैं और आपके जीवनकी

मोटर चल रही है। परन्तु आपको कहाँ पहुँचना है, यह बात मालूम होनी चाहिए यदि आप संसारकी वस्तुओंको अपनी ओर लानेके लिए कर्म करते हैं तो देनेके लिए भी कर्म करना चाहिए। कर्म देनेके लिए होता है, लेनेके लिए नहीं। यह तो स्वाभाविक ही है कि जब आप देना शुरू करेंगे तो आपके पास आना शुरू हो जायेगा। नहीं तो देंगे कहाँसे ? यदि हम विचार देना प्रारम्भ कर दें और हमारे पास विचारोंका आना बन्द हो जाये तो हम आपको किस प्रकार विचार दे सकेंगे ? जैसे-जैसे हम विचार देते हैं वैसे-वैसे नये-नये विचार हमारे अन्दर उदय होते हैं। कभी-कभी तो अपूर्व विचार आते हैं, अद्भुत विचार आते हैं।

यदि कर्मका उद्देश्य केवल व्यक्तिगत सुख-स्वार्थ है तो उस उद्देश्यका क्रमशः विस्तार करके उसको परिवारके साथ, फिर गाँवके साथ, फिर जातिके साथ, फिर मजहबके साथ, फिर राष्ट्रके साथ, फिर मानवताके साथ, फिर सम्पूर्ण विश्वके साथ और फिर उससे भी बढ़कर ईश्वरके साथ जोड़ा जा सकता है। ईश्वरके लिए कर्मका संकल्प होनेपर कोई बचा नहीं रह जायेगा और हमारा वह कर्म सबके लिए हो जाएगा। क्योंकि ईश्वर सर्वात्मा है। उसकी प्रसन्नता सबकी प्रसन्नता है, उसकी सेवा सबकी सेवा है।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।।

(१८.४६)

तो आप यह देखिये कि अपने कर्म द्वारा किसकी पूजा कर रहे हैं ? **कस्मै देवाय हविषा विधेम**। यह जो आपके हाथमें हविष्य है, जिसका आपने कर्मके द्वारा निर्माण किया है और जिसके द्वारा कर्म सम्पन्न होनेवाला है, वह किसके लिए है ?

यहाँ कस्मै देवाय का अर्थ एकस्मै देवाय अर्थात् 'एक देवताके लिए' है।

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत

जब उसी मन्त्रमें प्रजापतिका नाम ले लिया तब 'कस्मै देवाय' कहाँ रहा? जब हिरण्यगर्भ कह दिया, 'समवर्तताग्रे' कह दिया, 'एक असीत्' कह दिया तो 'कस्मै' का कोई अर्थ ही नहीं रह गया। मन्त्र वर्णमें जो 'एकः' कहा हुआ है, उसी 'एकस्मै' को 'कस्मै' बोलते हैं। है यह एकस्मै—एक देवताके लिए। हमारी आराधनाके ये पुष्प उसी 'कस्मै'—एक देवताके लिए हैं।

हमारे एक ब्रह्मचारी जी थे। उनके मन्दिरमें बीस-पच्चीस देव-मूर्तियाँ रखी हुई थीं। वे सबको चन्दन चढ़ाते, अक्षत चढ़ाते, फूल चढ़ाते और सबकी पूजा करते। मैंने पूछा कि ब्रह्मचारी जी, आपने ये बीस-पच्चीस प्रतिमाएँ क्यों रखी हैं? वे बोले कि 'डर लगता है। अगर किसीको छोड़ देंगे तो वह नाराज हो जायेगा।' तो यह पूजा भयमूलक हुई। पूजा तो डरकर नहीं, प्रेमसे करनी चाहिए और उसकी करनी चाहिए, जो सबमें एक है। उसकी पूजा करनेसे ही सबकी पूजा हो जाती है। तो आत्मशुद्धिका तात्पर्य है **कर्म कुर्वन्ति। योगिन कुर्वन्ति। योगिनः कर्म कुर्वन्ति। कर्म कुर्वन्ति कस्मै प्रयोजनाय? आत्मशुद्धये।** योगी लोग भी कर्म करते हैं। योगी वे होते हैं जो कर्मसे ज्ञानको अलग करके रखनेमें समर्थ हैं, अपने चिन्मात्र आत्मवस्तुको कर्म, करण, कर्तासे अलग रखकर असंग द्रष्टाके रूपमें अनुभव करनेमें समर्थ हैं। योगी लोग द्रष्टाको दृश्यके साथ मिलाकर कर्म करते हैं। क्यों कर्म करते हैं? जब उन्हें दृश्य-द्रष्टाका विवेक हो गया और वे अपने असंग स्वरूपमें बैठ गये तब फिर कर्म क्यों करते हैं? उत्तर है कि कर्म

नहीं करेंगे तो शरीर कैसे चलेगा ? **न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।**

केवल कर्म न करनेसे ही मनुष्य कर्मसे मुक्त नहीं हो जाता। कर्म नहीं करोगे तो ईश्वरके यहाँ पकड़े जाओगे और पूछा जायेगा कि तुमने अपने कर्तव्यका पालन क्यों नहीं किया ? आपका सेवक हो, आप उसे कोई कर्म सौंप दें और वह न करे तो आप जवाब-तलब करते हैं ना ? अतः **न कर्मणामनारम्भात्**— केवल कर्म न करनेसे ही कर्ममुक्त होना तो अलग रहा, उल्टे दण्ड-भाजन भी बनना पड़ता है।

न च संन्यासनादेव सिद्धि समधिगच्छति। केवल कर्मत्यागसे कोई सिद्धि मिलती हो—यह बात भी नहीं। कर्म तो करना ही चाहिए। हम कर्म किये बिना एक क्षण भी नहीं रह सकते— **न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।** हमारे शरीरमें ऐसे उपादान, ऐसे मसाले भरे हुए हैं, जो हमसे बलात् कर्म करवाते हैं।

कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।

यदि आप अपने मनमें वासना रखते हैं और कर्म नहीं करते तो आप मिथ्याचारी हो जाएँगे, ढोंगी हो जाएँगे। यदि आप मनको वासनासे मुक्त रखकर, संयत रखकर कर्म करेंगे तो आपके द्वारा बड़ा प्रशस्त कर्म होगा। **शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येद-कर्मणः।** इसका अर्थ है कि मनुष्यको कर्म अवश्य करना चाहिए। वह कर्मके बिना जीवित नहीं रह सकता। करनेकी रीति देखो। आप आधे मनसे, आधे उत्साहसे काम मत करो। आपको जो भी काम करना हो; पूरे मनसे, पूरे उत्साहसे करो। आपके अन्दर बल है तो आप अपने पूरे बलको कर्म करनेमें लगाइये। आपके भीतर समझ है तो पूरी समझदारीसे काम कीजिये। आपके

भीतर आनन्द है तो पूरे आनन्दके साथ कर्म-परायण होइये। आपका बल तो तभी बढ़ेगा, जब आपके मनमें उत्साह होगा। अतः जो भी काम कीजिये, पूरे उत्साहके साथ कीजिये। आप अपने कर्मकी पूर्णताके लिए इस बातपर ध्यान रखिये कि जो भी शक्ति या साधन आपके पास हैं, उसमें लगे। अब आपके कर्मसे ईश्वर प्रसन्न होगा, अन्तःकरणकी शुद्धि होगी अथवा लोकहित होगा। यह बात तो पहले सोच लीजिये। यह देख लीजिये कि जो काम आप करने जा रहे हैं, वह लोगोंकी भलाईके लिए है कि अपनी शुद्धिके लिए है कि ईश्वरकी प्रसन्नताके लिए है? इन तीनोंमें कोई फर्क नहीं, केवल शब्दोंका ही फर्क है। अतः **स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।** आप अपने कर्म द्वारा परमेश्वरकी आराधना कीजिये आपको सिद्धि मिलेगी। सिद्धि मिलेगी अर्थात् आपका कर्म सफल होगा। आप जिस उद्देश्यसे काम कर रहे हैं, वह उद्देश्य पूरा होगा।

अद्भुत है गीताका यह प्रसंग। जिस ईश्वरकी आराधना करनेके लिए कहा जा रहा है, उसका स्वरूप क्या है? जो सबके हृदयोंमें बैठकर अन्तर्यामी रूपसे सबका संचालन कर रहा है, प्रवर्तक है, शास्ता है, वह परमेश्वर है, उसकी सेवा करो। और, **येन सर्वमिदं ततम्** जो सबके रूपमें प्रकट हो रहा है, जैसे कपड़ेमें सूत होता है, वैसे ही जो सबमें भरपूर है, उसकी सेवा करो। किससे उसकी सेवा करें? कौन-सा अक्षत चाहिए? कौन-सा फूल चाहिए? कौन-सा शब्द चाहिए? कौन-सी क्रिया चाहिए? तो बोले कि ये सब कुछ नहीं चाहिए। जो कर रहे हो, उसीसे करो—**स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य**। आप कपड़ा बना रहे हो तो बनाओ परन्तु सर्वात्मा परमात्माकी प्राप्तिके लिए बनाओ। आप लोहा बना रहे हो तो बनाओ, परन्तु परमेश्वरकी प्राप्तिके लिए बनाओ।

आप अन्न पैदा कर रहे हो तो करो, परन्तु परमेश्वरकी प्राप्तिके लिए पैदा करो। आपके सभी काम परमेश्वरकी आराधनाके साधन बन जाएँगे। कितने सौभाग्य और प्रसन्नताकी बात होगी कि हमें ईश्वरकी पूजाका अवसर मिले, सबकी सेवाका अवसर मिले और अन्तःकरण-शुद्धिका अवसर मिले। यदि आप अपने कर्म और उद्देश्यके सम्बन्धमें पवित्रताकी भावना रखेंगे तो आपके मनमें वह काम करनेका उत्साह उत्पन्न होगा।

क्रियासिद्धिः सत्त्वे भवति महतां नोपकरणे।

कर्मकी सफलता उत्साहमें निवास करती है। जितना-जितना आपके मनमें उत्साह होगा, उतना-उतना शौर्य-वीर्यका उदय होगा। आपके भीतर अनन्त बल, अनन्त शक्ति छिपी हुई है। यदि आप उत्साहसे अपने कर्तव्यका पालन करेंगे तो आपकी शक्ति बढ़ेगी, बल बढ़ेगा। यदि आप बेमनसे उदास होकर दीनतापूर्वक काम करेंगे तो आपका बल क्षीण होगा, शक्ति क्षीण होगी, उदासीनता आवेगी। इसलिए पूरे उत्साहसे ही काम करना चाहिए। उत्साहसे काम करनेपर उसमें अपना बल, अपनी शक्ति, अपना उपकरण, अपनी सामग्री पूरी तरहसे लग जाती है। जब शक्ति लगती है तब सत् लगता है, समझदारी लगती है तब चित् लगता है और जब उस कामके करनेमें आनन्दका अनुभव होता है तब हम दूसरोंको आनन्द देने लगते हैं। जो स्वयं उदास होकर मनहूसकी तरह काम करेगा उसके कामसे दूसरेको क्या मजा मिलेगा। क्या आनन्द आवेगा ? अतः प्रसन्न रहकर, मुस्कराते हुए, आनन्द बिखेरते हुए काम करें। कर्म करते समय सबके साथ अभेद रखना चाहिए। भेदभाव कर्मको संकीर्ण बनाता है, आनन्द अपनेको तथा दूसरोंको आनन्दित करता है और समझदारी कर्मको सर्वाङ्गपूर्ण बनाती है। शक्ति कर्मको लक्ष्यकी ओर

ढकेलती है और पूरी शक्ति तब लगती है, जब हमारे जीवनमें उत्साह हो।

योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये।

योगी लोग आत्मशुद्धिके लिए ही कर्म करते हैं! गोस्वामी तुलसीदासजी भी रामचरितका वर्णन आत्मशुद्धिके लिए करते हैं—**निज गिरा पावन करन कारन राम जसु तुलसी कह्यो।** भागवतमें भी आया है—**गिरमन्याभिधासतीं सत्कर्तुम्।** दूसरोंका नाम लेते-लेते हमारी जीभ कुलटा हो गयी है, व्यभिचारिणी हो गयी है। अतः अन्यके अभिधानसे असती अपनी उस जीभकी पूजा करनेके लिए, उसको सता बनानेके लिए मैं श्रीकृष्ण चरित्रका गान कर रहा हूँ। लगता है गोस्वामी तुलसीदासजीने भी अपने उक्त कथनमें इसी उक्तिका आश्रय लिया है। तो हमारे कर्मका उद्देश्य क्या होना चाहिए ? अपनी पवित्रता, आत्मशुद्धि, अन्तः-करणकी निर्मलता, मनमें जो वासनाओंके, कामनाओंके मल लगे हुए हैं उनका निवारण।

अब काम करनेका जो विभाग है, उसपर विचार कीजिये—

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥ (५.१२)

देखो, हम दो टूक बात कहते हैं। यदि तुम्हें अचल शान्ति प्राप्त करनी हो तो काम कैसे करना चाहिए, यह सीख लो। केवल सरकार ही जेलखानेमें नहीं डालती, हम स्वयं भी अपनेको जेलखानेमें, बन्धनमें डाल लेते हैं। अतः यदि बन्धनसे मुक्त होना हो तो काम करनेका ढंग हमें जानना चाहिए। वह ढंग क्या है ? यही कि युक्त होकर काम करना चाहिए। युक्तका अर्थ गीतामें युक्तिकी जानकारी रखनेवाला है। जागनेमें भी सावधानी चाहिए,

सोनेमें भी सावधानी चाहिए। यदि आप ठीक समयसे जगेंगे नहीं और ठीक समयसे सोवेंगे नहीं तो आप काम भी ठीक नहीं कर सकते। भोजन ठीक नहीं करेंगे तब भी कर्म नहीं कर सकते। आपका पेट खाली है तब भी कर्म नहीं कर सकेंगे और पेट बहुत भर लेंगे तब भी काम नहीं कर सकेंगे। अतः कर्म करनेके लिए युक्ताहार विहार होना आवश्यक है। कर्म करनेकी कुशलताका नाम योग है—**योगः कर्मसु कौशलम्**। जीवनको नियमित अथवा संयमित करनेपर कर्म अपने ढंगसे होने लगता है। भोजन इस युक्तिसे करें कि अपच न हो, आपकी प्रकृतिके विरुद्ध न हो। भागवतमें तो भोजनके लिए तीन बात बतायी हैं—**पथ्यं पूतमनायस्तम्**। भोजन ऐसा होना चाहिए कि वह शरीरके लिए पथ्य हो, मनके लिए पवित्र हो और अनायस्तम् अर्थात् उसको बनानेमें बहुत श्रम न करना पड़े। पहले कोई-कोई चीज ऐसे बनाते कि उसकी तैयारी करनेमें दो-दो, तीन-तीन दिन लग जाते थे और खानेमें केवल पाँच मिनट। कभी-कभी लोग कहते हैं कि महाराज केवल पाँच मिनटके लिए हमारे घर चले चलिये। किन्तु उनके घर पाँच मिनटके लिए जानेपर मार्गमें जो दो घण्टे लगते हैं उसको तो वे गिनते ही नहीं। तो भोजन करना पाँच मिनट और उसके लिए दिन खराब कर देना तीन—यह कोई बुद्धिमानीकी बात नहीं। अतः भागवतकारने जो भोजनके लिए **पथ्यं पूतमनायस्तम्**—ये तीन विशेषण दिये हैं उनके अनुसार भोजन करें तो आप अपना काम बिल्कुल ठीक कर सकते हैं।

अब 'विहार' शब्दको लीजिये। विहारसे आप स्त्री-पुरुषका सम्बन्ध लीजिये या टहलना आदि लीजिये, सबमें युक्तता आवश्यक है। एक दिन तो पाँच-दस मील चले गये और एक दिन पलंगपरसे उतरे ही नहीं, ऐसा नहीं, बिल्कुल नियमसे विहार होना चाहिए—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।

कर्मकी शक्ति रहते हुए कर्म छोड़ना ठीक नहीं। शक्ति रहते हुए कर्म छूटता भी नहीं। जिन लोगोंको कुर्सीपर बैठकर पाँव हिलानेकी आदत पड़ जाती है, वह भी जल्दी नहीं छूटती। वे बैठते हैं और अनजानेमें पाँव हिलाते रहते हैं। जिनको उँगली चलानेकी आदत पड़ जाती है, उनकी अंगुलियाँ असावधानीमें चलती रहती हैं। इसी तरह व्यर्थ शब्द बोलनेकी भी आदत होती है। गाँवोंमें कई लोग हर बातमें 'राम आसरेसे' बोलते हैं। इसको शायद तकियाकलाम कहते हैं। सुननेवालोंको इस आदत-पर हँसी आती है। अतः इसके सम्बन्धमें भी कर्मकी चेष्टा बिल्कुल युक्तियुक्त होनी चाहिए। सोच-विचारकर बुद्धिपूर्वक काम करना चाहिए।

युक्तस्वप्नावबोधस्य—इसका अर्थ है कि समयपर सोवें और समयसे जागें, तभी आप अपना काम ठीक करेंगे। आप कर्मयोग-को तभी ठीक कर सकेंगे, जब आपके जीवनमें कोई व्यवस्था आवेगी। जिसके जीवनमें अव्यवस्था होगी, वह अपना काम ठीक नहीं कर सकता।

अब अदि आप कर्मकी सूक्ष्मतामें प्रवेश करें तो प्रतीत होगा कि दूसरेका जो काम है, उसमें टाँग अड़ानेकी जरूरत नहीं यदि हम अपना काम ठीक-ठीक करें और **स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य** को क्रियान्वित करते रहें तो दूसरे लोग भी अपना काम ठीक-ठीक करेंगे और सारे काम समुचित रूपसे होते रहेंगे।

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्—का अर्थ है युक्त होकर काम करना। आचार्योंने 'युक्त' शब्दका अर्थ किया है ईश्वरार्पित। परन्तु युक्त शब्दका साधारण अर्थ आप ऐसा लें कि

काम करते समय कभी-कभी कोई बात अपने मनके अनुकूल न हो तो क्रोध न करें। क्रोध आनेपर काम बिगड़ जाता है। इसको आप बहुत छोटे स्तरपर लीजिये। बड़े स्तरकी जो बात होती है, वह सिर्फ बड़े लोगोंके लिए होती है। अपनेको बहुत बड़ा न करके छोटी जगहसे बातको सीखना चाहिए। हमने देखा, एक बहुत बड़े वकील थे, बहुत अच्छी बहस कर रहे थे। सामनेके वकीलने जब देखा कि इनसे तो हम पार नहीं पावेंगे तो ऐसी बात कह दी कि अच्छी बहस करनेवाले वकीलको क्रोध आ गया और उनकी बहस बिगड़ गयी। वे क्रोधमें जो कहना चाहिए था वह न कहकर अंट-संट बोलने लगे। बहसका असली मुद्दा छूट गया और वे सामनेवाले वकीलका तिरस्कार करते हुए यह कहने लगे कि 'इनको हम दस बरस पढ़ा सकते हैं।' अदालतने इस बातको नोट कर लिया। तो क्रोध करनेसे कर्ममें योग नहीं रहता, मनुष्य अयुक्त अथवा अयोग्य हो जाता है। यदि किसी वस्तुकी प्रबल कामना आ जाय तो वह आपके मस्तिष्कपर छा जायेगी। आप वहाँ नहीं रहेंगे जहाँ काम कर रहे हैं, अपितु वहाँ पहुँच जाएँगे जिसकी कामना आपके मनमें है। आपका मन वहाँ रहना चाहिए, जहाँ आप काम करते हैं। यदि आपका मन वहाँ नहीं, तो आपका कर्म बिगड़ जायेगा, ठीक नहीं बनेगा। इसलिए—

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीर विमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥(५.२३)
युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।

जो युक्त है, वह कर्मफल-त्याग करके नैष्ठिकी शान्ति प्राप्त करता है। युक्त वह है, जो काम या क्रोधपर अपने कर्मको छोड़कर दूसरी जगह न चला जाये। जीवनमें चाहे जितनी आवश्यकताएँ हों, चाहे जितनी इच्छाएँ हों, चाहे जैसी परिस्थिति हो, परन्तु अपना काम पूरा करके ही छोड़ना चाहिए।

श्रीमद्भागवतमें एक कथा आती है। जब वराह भगवान् धरतीको अपने दाढ़पर लेकर रसातलसे निकले तो हिरण्याक्ष सामने आ गया और उनको गाली देने लगा—'तुम सूअर हो, भगोड़े हो, तुम्हारे अन्दर कोई ताकत नहीं।' अब यदि पृथिवी निकालनेके पहले वराह भगवान् उसको जवाब देने लगते, बोलने लगते या उससे भिड़ जाते तो उनका काम पूरा नहीं होता। अतः उन्होंने उसकी बक-बकपर ध्यान नहीं दिया और अपना काम करते रहे। वे पृथिवीको लेकर आये, उसको पानीके ऊपर ठीक-ठीक जमा दिया। जब पृथिवी जम गयी, स्थापित हो गयी, तब उन्होंने घूमकर हिरण्याक्षकी ओर देखा और कहा कि 'भाई, सत्य ही हम तो सूअर हैं, **वनगोचरो मृगः**—पशु हैं और हम भाग रहे हैं—यह भी सही है। परन्तु अब आओ हम तुमसे दो-दो हाथ करते हैं।' यह बात शूकर भगवान्ने तब कही, जब जलपर पृथिवीको स्थापना हो गयी, अन्यथा यदि पहले लड़ाई होती तो पानीमें करनी पड़ती। बहादुरी दिखानेका काम भी स्थान और परिस्थितिके अनुसार होता है। पहले अपना बल देख लो। शत्रुके बलको भी माप लो, परिस्थितिको समझ लो, अपने सहायकोंको देख लो। फिर आवश्यकता हो तो अपना बल प्रकट करो। जो केवल क्रोधके आवेगमें अपनी शक्ति-सामर्थ्यका विचार किये बिना ही किसी कममें कूद पड़ता है, उसका काम बिगड़ता है। तो युक्तःका अर्थ है काम क्रोधके वशमें न हो। **शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात्।**

यह नियम मृत्युपर्यन्त रहना चाहिए। हम अन्ततक सावधान रहें कि काम-क्रोधके वशमें होकर कोई अनर्थ नहीं करगे। उनके आवेगको सह लेनेकी शक्ति अपने भीतर रहनी चाहिए। काशीमें प्रसिद्ध है, वहाँके एक साधु बदनाम मुहल्ला—दालमण्डीके पाससे

रोज गंगा स्नान करने जाया करते थे। एक वेश्या सामने आकर खड़ी होती और पूछती कि 'महात्माजी पक्के हो ?' साधु कुछ नहीं बोलते, सिर झुकाते और चुपचाप चले जाते थे। वेश्याने प्रतिदिन पूछनेका नियम कर लिया था और महात्माने उसको जवाब नहीं देनेका। जब महात्माजीकी मृत्यु हो गयी और उसी मार्गसे उनकी अर्थी निकली तब भी वेश्या आयी और बोली यह साधु हमारे प्रश्नका उत्तर दिये बिना मर गया। इसपर महात्माके मुर्देमें-से आवाज आयी कि—आज अपना उत्तर सुन लो, यह पक्का साधु है। इसे चमत्कार न समझकर इसका अभिप्राय समझना चाहिए। मनुष्यके मनमें विकार आते हैं; काम आता है, क्रोध आता है, लोभ आता है। ये मनुष्यको कहाँ छोड़ देंगे, इसका पता नहीं। इसलिए इनके वेगको सहनेका सामर्थ्य रहना चाहिए। जो ऐसा करता है, उसीका नाम युक्त है और वही सुखी है—**स युक्तः स सुखी नरः**। युक्त होकर काम करो। यदि आप अच्छा काम कर रहे हैं तो नतीजा कब निकलेगा, कैसे निकलेगा, कहाँ निकलेगा—इसकी चिन्ता छोड़ दीजिये। यह नतीजाकी स्थिति परिस्थितिजन्य है, उसके लिए चिन्ता करनेका कोई कारण नहीं। आप काम अच्छा कर रहे हैं कि नहीं—यह देखिये। निश्चय ही नतीजा अच्छा निकलेगा। एक बहुत मशहूर दोहा है—

चोरी करे निहाय की, करैं सुई का दान।
ऊँचे चढ़िके देखिहैं, केतिक दूर विमान॥

बार-बार नतीजा देखना, हमारा काम नहीं। हमने निश्चय कर लिया कि यह काम पवित्र है, शुद्ध है हमारे उद्देश्यके अनुरूप है। प्रयोजनका विचार कर लेना चाहिए और कामना नहीं रखनी चाहिए। प्रयोजन और कामनामें बहुत फर्क है। यह नहीं

कि चाहे जो काम करने लगे। यदि उचित काम कर रहे हैं, अपने कर्तव्यका पालन कर रहे हैं और अच्छे उद्देश्यसे कर रहे हैं, तो करते जाइए। उसके परिणामकी ओर, फलकी ओर बारम्बार देखनेकी कोई आवश्यकता नहीं। आपको हँसीकी एक बात सुनाते हैं। हमारे एक मित्र जो ईश्वर कृपासे अभी हैं, वे और हम दोनों एक साथ बैठकर गायत्रीका जप करते थे। वे मित्र अपने पास एक शीशा रखते थे। जब एक दो मालाका जप पूरा हो जाता तो शीशा उठाकर अपना चेहरा देखते कि उनके चेहरे-पर कितनी रौनक बढ़ी? गायत्री मन्त्रका जप करनेसे रक्तसंचार ठीक-ठीक होता है और वह ऊर्ध्वमुखी होता है। जप करनेवालोंके चेहरेपर तेज भी आता है। परन्तु वह तेज हर मालाके अन्तमें देखा जाय यह तो आवश्यक नहीं। काम करके तुरन्त उसके फलपर दृष्टि डालना अनावश्यक है। अनादिकालसे अबतक तो संसारका भजन करते रहे, अब चार माला ईश्वरके लिए फिरा ली तो देखने लगे कि अभी तो भगवान् ही नहीं आये, अभी उनका सपना ही नहीं आया, अभी हमको दर्शन ही नहीं मिला। अरे भाई, धैर्य रक्खोगे और निष्ठापूर्वक भजन करते जाओगे, तब न उसका परिणाम निकलेगा! अतः जब हम कामनाके द्वारा— **कामकारेण** प्रेरित होते हैं तब फँस जाते हैं।

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥

एक बात यह भी ध्यान रखनेकी है कि मनमें काम आ जाये, क्रोध आ जाय तो यह नहीं समझना कि हमारा पतन हो गया, क्योंकि वह तो चिरकालसे अभ्यस्त है। मनमें क्रोध आ जाता है तो दिलमें जलन होती है और काम आता है तो दिल शरीरको फाड़कर बाहर निकलना चाहता है। काममें बातकी

और क्रोधमें पित्तकी प्रधानता है। गोस्वामी तुलसीदासजीने ही लिखा है—

काम बात कफ लोभ अपारा।
क्रोध पित्त नित छाती जारा॥

क्रोध पित्त है छातीको जलाता है। यदि यह मनमें आगया है और हमने इसे जानबूझकर बुलाया नहीं तो आकर चला जायगा। परन्तु उसके आनेके बाद उसका चेला बन जाना, उसका किंकर हो जाना, उसके इशारेपर नाचने लगना, यह हमारे लिए उचित नहीं। ईश्वरकी समग्र शक्ति हमारे साथ है, हम ईश्वरके अंश हैं, हम चाहें तो काम, क्रोधको क्रियान्वित होनेसे पहले ही रोक सकते हैं। **शक्नोतीहैव** का अर्थ है कि काम-क्रोधके वेगको सहन करनेका सामर्थ्य होना चाहिए। इसके सहनकी कितनी ही युक्तियाँ होती हैं। चुप हो जाओ, हट जाओ, पानी पी लो, ऐसे अवसरके लिए अपने ऊपर पहलेसे ही जुर्माना करके रखो, भगवान्‌का नाम लो, कामनापूर्तिका आग्रह मत रखो, दूसरेके मनका भी आदर करो—आदि अनेक ऐसे उपाय हैं, जिनसे हम काम-क्रोधके क्रियान्वयनसे अपनेको बचा सकते हैं, उनके वेगको सह सकते हैं। यदि आप युक्त रहेंगे और मनोरथके साथ नाचेंगे नहीं, तो आपको नैष्ठिक शान्तिकी प्राप्ति होगी। गीतामें युक्त शब्दका अर्थ छोटा-मोटा नहीं, बहुत बड़ा है—

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा॥ (६.१८)

जब हम निःस्पृह होकर अपने काममें लगे हैं तब दुनिया आवे जावे, हमें क्या चिन्ता है—**तू तो राम भजो जग लड़वा दे**। जब जब चित्त नियत होकर अपने हृदयमें ही स्थिर हो जाता है,

कामनाकी गाड़ीपर चढ़कर बाहर नहीं दौड़ता तब इसका नाम युक्त हो जाता है। गीतामें सिद्ध पुरुषको भी युक्त कहते हैं—

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चन॥ (६.८)

जैसे भोजनका प्रेमी भोजन करके तृप्त होता है, जैसी तृप्ति बढ़िया-से-बढ़िया प्रिय एवं स्वादिष्ट पदार्थोंके खानेसे होती है, लोभीको धन मिलनेपर जैसा सन्तोष होता है, जैसी तृप्ति स्त्री पुरुषोंके मिलनेमें होती है वैसी ही तृप्ति, सन्तोष और रति जिसको ज्ञान-विज्ञानमें हो, वह युक्त होता है। जिसको सत्यमें परिवर्तनकी कल्पना न हो और इन्द्रियाँ जिसके वशमें हों ऐसे योगीको युक्त कहते हैं। ज्ञान-विज्ञान-तृप्तात्माकी विशेषता यह होती है कि उसके लिए मिट्टीका ढेला पत्थरका टुकड़ा और सोनेकी सिल्ली समान है। जो बाहरकी वस्तुसे तृप्त नहीं, अपने आपमें तृप्त है, उसका नाम गीतामें युक्त है।

आप यह बात ध्यानमें रखें कि गीता बार-बार कर्मत्यागकी अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ बताती है—**कर्मयोगो विशिष्यते**। यदि आप यह प्रश्न उठावें कि समाधि लगाना श्रेष्ठ है या कर्म करना श्रेष्ठ है तो योगी कहेगा कि कर्म विक्षेप है—बहिर्मुखता है समाधि लगाना श्रेष्ठ है। संन्यासी कहेगा कि कर्म करना विक्षेप है, कर्म-त्याग श्रेष्ठ है। परन्तु गीता समाधिसे भी श्रेष्ठ कर्मको बताती है। आप छठे अध्यायमें देखिये—**आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्**।

अपने मनको आत्मसंस्थ कर लो, आत्मामें मर जाने दो। संस्था शब्दका अर्थ संस्कृत भाषामें मृत्यु भी होता है। जैसे किसी मुर्देको कब्र या समाधिमें गाड़ देते हैं, ऐसे ही अपने मनको

अपने अन्दर विलीन कर लो। फिर तुम्हें कोई चिन्ता नहीं रह जायेगी।

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥ (६.२७)

ब्रह्मभूत सुखकी प्राप्ति होती है। ठीक है किन्तु श्रीकृष्णने अर्जुनको बताया कि यह तो योग है और इसको करनेवाला योगी है। आओ अर्जुन, अब हम तुमको परमयोगीकी पहचान करावें—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥ (६.३२)

देखा, न तो यह ध्यान कर रहा है, न धारणा कर रहा है और न समाधि लगा रहा है। यह तो देख रहा है दुनियाको, दूसरोंको देख रहा है, सुखको देख रहा है, दुःखको देख रहा है। सुखीको देख रहा है, दुःखीको देख रहा है। परन्तु **आत्मौपम्येन पश्यति**—अपने समान ही सबको देख रहा है। हमको सुख होता है तो कैसा लगता है और दुःख होता है तो कैसा लगता है। हमको दुःख पसन्द नहीं, सुख पसन्द है। परन्तु सामनेवालेको जब सुख-दुःख होता है तब कैसा लगता है? धर्मका यह रहस्य है कि मनुष्य अपने सुख-दुःखके समान ही दूसरेके सुख-दुःखका भी अनुभव करे **न तत् परस्य संदध्यात् प्रतिकूलं यदात्मनः**। अर्थात् जो काम अपने लिए उलटा पड़ता है, वह दूसरेके लिए न करें। वह परमयोगी है, जो दूसरेके सुखको ध्यानमें रखकर काम करता है—जो दूसरेको दुःख न पहुँचे, यह ध्यानमें रखकर कर्म करता है। **आत्मौपम्येन**—जैसा अपनेको सुख-दुःख होता है, अनुकूल होनेपर सुख होता है, प्रतिकूल होनेपर दुःख होता है, वैसे ही दूसरेको भी होता है। परमयोगी लोगोंको चुन-चुनकर

सुख पहुँचाने अथवा दुःखसे बचानेका प्रयास नहीं करता, अपितु उसकी दृष्टि सर्वत्र और समान रहती है। **सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः।** अतः यदि समाधि लगानेवाला योगी है तो सबके सुख-दुःखको अपना समझकर कर्म करनेवाला परमयोगी है।

भगवती गीताके अनुसार कर्म-संन्यासकी अपेक्षा कर्मयोग विशिष्ट है, कर्मत्यागकी अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है और समाधि लगानेकी अपेक्षा समत्वपूर्वक कर्म करना श्रेष्ठ है। भगवद्गीता दोनों तरहसे बनता है। भगवता गीता भगवद्गीता। भगवान्‌ने जिसका गान किया वह भगवद्गीता। और जहाँ गीता साक्षात् भगवती है वहाँ भगवती गीता। लक्ष्मीजीको भगवान् कहाँ रखते हैं? अपने वक्षःस्थलपर और गीताको कहाँ रखते हैं? आप लोग माहात्म्य तो पढ़ते ही होंगे। **गीता मे हृदयं पार्थ**—गीता मेरा हृदय है।' तो गीता रहती है भगवान्‌के हृदयमें और लक्ष्मी रहती हैं भगवान्‌के वक्षःस्थलपर। गीता भगवान्‌के आनन्दका संगीत है, प्रेमका संगीत है। वास्तवमें जो युद्धभूमिमें लड़नेवालेके सामने और दुःखोंसे सन्तप्त प्राणियोंके सामने समान रूपसे आनन्दका गीत गा सकता है, उसीके हृदयमें गीताका निवास है। भगवान् कहते हैं कि श्रीमद् भी मैं ही हूँ।

श्रीमदूर्जितमेव वा। तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्।

यह श्रीमद्गीता भगवान्‌का अंश है, भगवान्‌का तेज है। अतः इसका आश्रय ग्रहण करना सब प्रकारसे श्रेयस्कर है। ●

प्रवचन-७

शान्ति कैसे मिलती है, इसपर भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण हैं। गीतामें जीव स्वयं प्रयत्न करके शान्ति प्राप्त करे, यह बात कही गयी है। श्रीकृष्ण अर्जुनसे कहते हैं कि ईश्वरकी शरणमें जाओ, उसकी कृपासे शान्ति मिलेगी। अर्जुन कहते हैं कि मुझे तो तुम्हारी कृपासे, तुम्हारे प्रसादसे, शान्ति मिलती है। इसप्रकार एक ही वस्तुको देखनेके लिए भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण होते हैं।

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा—हम अपना कर्तव्य समझकर कर्म करते जाएँ। कर्म प्रयोजनीय अवश्य है, परन्तु उसके फलमें आसक्ति नहीं होनी चाहिए। बिना प्रयोजनके मूर्ख-से-मूर्ख मनुष्य भी किसी काममें प्रवृत्त नहीं होता। तो इस कामसे किस प्रयोजनकी सिद्धि होगी—यह बात अवश्य ही ध्यानमें रख लेनेकी है। निष्काम निष्कामकी रट लगानेवाले सोचते हैं कि निष्कामका अर्थ निष्प्रयोजन होता है। किन्तु यह ठीक नहीं। अमुक काम करनेसे हमारे अन्दर कौन-सी वृत्ति उत्पन्न होगी और वह हमें अभीष्ट होगी कि नहीं, यह विचार अनिवार्य है। कर्म करनेसे वस्तु मिले या न मिले—यह बात दूसरी है; परन्तु कर्ताके अन्तःकरणमें फलवृत्तिका उदय अवश्य होगा। प्रश्न यह है कि आप कैसी फलवृत्ति चाहते हैं? क्या ग्लानि चाहते हैं? पश्चात्ताप चाहते हैं? घृणा चाहते हैं? आलस्य चाहते हैं? प्रमाद चाहते हैं? द्वेष चाहते हैं? ऐसा तो कोई नहीं चाहता। हमारी स्वाभाविक चाह आनन्दकी उपलब्धि है और उसीके लिए प्रयोजनका विचार अपे-

क्षित है। प्रयोजन वह होता है जो कर्म करनेके बाद कर्ताके अन्तःकरणमें चिपक जाता है। शुद्ध प्रयोजनका स्वरूप ऐसा है कि **अवगतं सद् आत्मनि इष्यते**—उसका ज्ञान होते ही आकांक्षा होती है कि बस, अब यह हमारे साथ ही रहे। निष्कामका अर्थ क्या है ? आप निष्काम भावसे भगवान्‌के सामने खड़े हो जाइए और **पापोऽहम् पापकर्माऽहम्** कहिए। यह भगवान्‌के ही सामने कहिए, दुनियामें और किसीके सामने बोलनेकी जरूरत नहीं । अब विचार कोजिये कि इस प्रार्थनाका यही फल है कि भगवान् कह दें कि अब तुम निष्पाप हो गये या यह कह दें कि हमने तुम्हारे सारे पाप माफ कर दिये। भगवान् बोलें या न बोलें—यह पापोऽहम्‌का प्रयोजन नहीं। प्रयोजन यह है कि आप भगवान्‌के सामने जिस विश्वाससे पापोऽहम् पापकर्माऽहम् बोल रहे हैं, उसी विश्वासके साथ आपके अन्तःकरणमें इस वृत्तिका उदय हो उसी विश्वासमेंसे इस वृत्तिका अंकुर निकले कि निष्पापोऽहम्। यही प्रतीकोपासनाका फल, अहंग्रहोपासना है। आपने ईश्वरके सामने हाथ जोड़ लिया और आपके भीतरसे यह भाव निकला कि मैं निष्पाप हो गया। पापोऽहम् बोलता है जीव और बुलवाता है उसके भीतर बैठा हुआ ईश्वर। इसका फल यही है कि हम निष्पाप हो गये और इस फलको कोई त्याग नहीं सकता। अतः पापोऽहम् कहनेसे इस प्रयोजनकी सिद्धि हो गयी कि निष्पापोऽहम्‌का भाव आपके साथ जुड़ गया। हमने ईश्वरके सामने अपना पाप स्वीकार किया, अपनेको पापी माना और इसके बाद हमारा पाप मिट गया। अब देखिए कि **पापोऽहम्** बोलना निष्काम है या निष्प्रयोजन ? निष्काम इस अर्थमें है कि इससे हम भगवान्‌से और कुछ नहीं चाहते परन्तु इसमें यह प्रयोजन तो है ही कि हमारे मनमें जो पापवासना है वह निवृत्त हो जाये इसलिए यदि विचार करके कर्म किया जाये तो प्रयोजनकी सिद्धि निश्चितरूपसे

होती है। प्रयोजनकी सिद्धिमें कभी बाधा नहीं पड़ती। कर्म अपना काम करता ही है, चाहे आप मानो चाहे मत मानो। किसीकी हिंसा करनेपर मैंने बुरा किया, यह वृत्ति आपके मनमें उठेगी ही। इसी प्रकार किसीको पानी पिलानेसे आपके मनमें खुशी होगी। यदि कहो कि हमने निष्काम भावसे पानी पिलाया है तो ठीक है, परन्तु पिलानेके बाद आपके मनमें जो खुशी होगी वह क्या है? क्या उसे आप रोक सकते हैं? यह कर्मका नियम है। इसको थोड़ी सूक्ष्मतामें समझना पड़ता है। सब पदार्थोंका स्तर बाहर ही नहीं होता, उनका स्तर भीतर भी होता है तथा आध्यात्मिक दृष्टिसे उसके लाभ और हानिको जाँचना पड़ता है।

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
तत्प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

ईश्वरकी शरणमें जानेपर कर्म समाप्त नहीं होता। यही होता है कि पहले तुम अपने बोझसे काम कर रहे थे, अब वह तुम्हारे लिए सहज हो जाता है। हम लोग प्राणायाम करते हैं—उनमें भस्त्रिका करते हैं, उज्जायी करते हैं, पूरक, रेचक, कुम्भक अथवा कुछ भी करते हैं। किन्तु हम साँस ले रहे हैं और साँस छोड़ रहे हैं, यह अभिमान होता है। कभी अभिनय अथवा नाटक करना हो कि हम तो थक गये तो उस समय भी साँस फुलानेकी क्रिया करनी पड़ती है। लेकिन सहज साँसका स्वरूप क्या है? यही है कि उसमें जान-बूझकर साँस लेने अथवा छोड़नेका अभिमान करनेकी कोई आवश्यकता नहीं पड़ती। तो—**सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्**। हमारे जीवनमें जैसे सहज भावसे साँस आ रही है, वैसे ही सहज भावसे कर्म भी होते हैं। यदि आप कुछ पानेके लिए कर्म करेंगे तो आपको बनावटी कर्म करने पड़ेंगे, प्राणायाम अथवा अभिनय करेंगे। तो जान-बूझकर

कर्म करने पड़ेंगे। परन्तु स्वाभाविक कर्म तो सहज भावसे ही होते हैं। इसलिए कर्मफलपर दृष्टि न रखकर सहजभावसे कर्म होने देना चाहिए। तभी आपको शान्ति मिलेगी। शान्ति भी बनावटी होती है। कई लोग शान्तिको साध्य वस्तु समझते हैं। आज यह मिला तो इससे शान्ति मिली। कई लोग वस्तु छोड़कर शान्ति पाते हैं और कहते हैं कि अमुक चीज छूट गयी तो बड़ी शान्ति मिली। अपनी शान्तिको बाहरकी वस्तुके पराधीन कर देना ठीक नहीं। एक साधु थे। वे जिस दिन खीर खाते थे, कहते थे कि बस आज बड़ी शान्ति है। खीर न मिले तो अशान्ति हो जाती थी। उनकी शान्ति खीरकी गुलाम थी। आपको आँख कहीं फँस जाये और आप यह अनुभव करने लगें कि वह दिखायी देगा तो शान्ति मिलेगी, अन्यथा अशान्ति रहेगी तो आपने अपनी शान्तिको उस वस्तुके पराधीन बना दिया। शान्ति तो स्वाधीन होनी चाहिए। जो शान्ति कुछ करके, कुछ भोगके या किसी संग-साथसे मिलेगी वह थोड़ी देरके लिए मिलेगी। इसलिए साधक लोग थोड़ी-थोड़ी देरके लिए मिलनेवाली शान्ति नहीं चाहते। साधकोंको तो स्थिर शान्ति चाहिए। स्थिर शान्ति युक्त-पुरुषोंको ही प्राप्त होती है। युक्तके लक्षण पहले बताये जा चुके हैं। हम आपको पुनः यह बताना चाहते हैं कि गीतामें युक्त-पुरुषके जो लक्षण बताये गये हैं वे बड़े उच्चकोटिके हैं—

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥

(गी० ४.१८)

युक्त वह है जो कृत्स्नकर्मकृत् है—सारे काम करता है और योगी है। कहा ठीक है कि योगी होगा, किन्तु बुद्धि ठीक काम नहीं करती होगी। बोले कि नहीं बुद्धिमान् भी है। काम भी

कर रहा है, उसकी बुद्धि भी जाग्रत् है और वह योगी भी है। क्योंकि उसके द्वारा जो कर्म हो रहे हैं, उसमें उसका मैं नहीं। नींदको पकड़कर रखनेवाला मैं नहीं होता और सपना बुलानेवाला भी मैं नहीं होता। इन दो अवस्थाओंका तो प्रत्यक्ष ही अनुभव होता है। अगर सपना बुलाना हमारे हाथमें होता तो हम बुरे सपने कभी नहीं बुलाते। यदि नींदको पकड़कर रखना अपने वशमें होता तो अनिद्राका रोग ही नहीं होता। नींद आती है और जाती है, सपने आते हैं और जाते हैं। अच्छा, जाग्रत्‌में भी आप क्या बिल्कुल स्वतन्त्र हैं? स्वतन्त्रतापर थोड़ा ध्यान दीजिये। क्या आप दुःख चाहते हैं? नहीं चाहते। दुःख आवे तो परहेज करते हैं? करते हैं। फिर यह प्रयत्न करनेपर भी दुःख न आवे, वह क्यों आता है? निश्चय ही उसके पीछे कोई कारण है जिसपर आपका वश नहीं, अतः अहं **करोमीति वृथाभिमानाः**। मैं करता हूँ—यह अभिमान बिल्कुल झूठा है।

तो, यदि नैष्ठिक शान्ति, स्थिर शान्ति, अचल शान्ति प्राप्त करना हो तो कर्म करते रहें। उसको छोड़ें नहीं। परन्तु कर्म करते समग्र बुद्धिको भी न छोड़ें। यदि आप कर्म न करें और बुद्धि छोड़ दें तब भी अन्याय करेंगे अपने साथ। चाहे किसी भी मार्गमें चलना हो, बुद्धिका परित्याग नहीं करना चाहिए—**बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः।**

बुद्धिकी शरण लो और समझ-बूझकर काम करो। कर्म करनेमें एक तो पूरा उत्साह चाहिए, दूसरे बिना कंजूसीके अपना सारा बल लगाना। बल सत्तामें-से, अस्तित्वमें-से आता है, समझदारी अपने चित्‌से आती है। स्वाद लेते हुए काम करें। बोझ समझकर, दुःख समझकर, काम न करें। सत्-चित्-आनन्द तीनों आपका स्वरूप है। आपके हाथसे जो रचना रची जाए, जो काम किया

जाए, उसमें भी सत् हो, चित् हो, आनन्द हो। अपने आपको, अपने कर्ममें निमग्न करके, युक्त होकर कर्म कीजिये। आपको तभी शान्ति मिलेगी।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।

यदि कहें कि हम कुछ नहीं करेंगे, हाथ-पाँव बाँधकर बैठे रहेंगे, तो यह सम्भव नहीं। कभी-कभी आदमीको बहम होता है कि मैं कुछ नहीं करता, आसन बाँधना क्या कर्म नहीं? आपने अपने पाँवको समेटा तभी तो आसन बँधा। हाथको गोदमें रखकर बैठे या फैलाकर, यह भी तो काम है। आप तनकर बैठते हैं, पीठकी रीढ़ सीधी करते हैं, सिर ऊपरको करते हैं, ये सब कर्म हैं कि नहीं? तात्पर्य यह है कि जिस समय आप समझते हैं कि मैं काम छोड़कर बैठा हूँ उस समय भी काम करते होते हैं। इसीलिए जिस समय आप काम करते होते हैं, किन्तु आपमें उसका अभिमान नहीं होता तो उस समय भी आप कर्मसे मुक्त होते हैं। युक्तकी सबसे उत्तम परिभाषा यह है कि कर्म करते हुए भी उसमें कर्मका अभिमान नहीं होता। कर्म छोड़ना इसलिए कर्म है कि उसको छोड़नेमें साफ मालूम पड़ता है कि छोड़नेकी क्रिया मैंने की है। अतः कर्म भी नहीं छूटे, बुद्धि भी नहीं छूटे, और अभिमान रहित अपने स्वरूपमें स्थित रहकर कर्म करें। यही कर्म करनेकी रीति है। यदि आप इस रीतिके विपरीत कर्म करेंगे तो वह आपको बाँध लेगा, फँसा लेगा—**अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते।** भगवान्को अयुक्त पसन्द नहीं। वे निन्दा करते हैं अयुक्तकी—

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥

जो युक्तिपूर्वक उचित युक्त जीवन नहीं व्यतीत करता उसे

शान्ति नहीं मिल सकती। युक्ति अस्या अस्ति इति युक्तः इसको मत्वर्थीय प्रत्यय बोलते हैं। युक्त अर्थात् युक्तिवाला, युक्तिमान्। ऐसी युक्तिसे काम करो कि उसमें जो बुराई होती है, वह तुम्हें छू न सके। बुराईसे बचकर काम करो। यदि आप असावधानीसे काम करेंगे, अधिक सोते या अधिक जागते रहे तो कर्तव्यमें बाधा अवश्य पड़ेगी। जो रात-दिन भोग-विलासमें, खेलकूदमें, जुएमें लगे रहते हैं वे युक्त होकर काम नहीं कर सकते। दुर्भाग्य-वश आजकल बड़े ऊँचे तबकोंमें बड़े ऊँचे स्तरपर ये सब काम हो रहे हैं। **नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य** जिसके जीवनमें सोनेका, जागनेका, खानेका, काम करनेका कोई नियम नहीं, आहार-विहारका कोई सयम नहीं, वह अपनेको बुद्धिमान् मानता है। बेवकूफीको ही बुद्धिमानी मानता है। परन्तु क्या प्रमादीमें कहीं बुद्धि हो सकती है ? जब सूर्योदय होता है, तब उनका सायंकाल होता है। वे प्रकृतिके विरुद्ध आचरण करते हैं। अरे भाई, जरा सोचो तो सूर्यदेवता–प्रकाश देवताका आदर नहीं करते हो ? तुम प्रकाश-देवताका आदर नहीं करते तो तुम ज्ञान देनेवाले देवताका भी आदर नहीं करोगे तो तुम्हारे भीतर जो परमेश्वर बैठा हुआ है, उसका भी अनादर हो जाएगा। ज्ञान देनेवाला तुम्हारे भीतर बैठा है। वह इतना उदार है कि तुम्हारे न देखने पर भी तुम्हें ज्ञान देता रहता है। इसलिए उसके आगमनपर तुम्हारा सोते रहना, तुम्हारी बुद्धिमत्ताका परिचायक नहीं।

यदि यह कहा जाए कि जिसके पास बुद्धि न हो, वह क्या करे ? तो उसे श्रद्धासे, विश्वाससे काम करना चाहिए। जो बुद्धि-मान लोग हैं, उनके पीछे चलना चाहिए। अपनी बुद्धि काम न करे तो भावनासे काम लें। बुद्धि और भावनामें फर्क होता है। बुद्धि यह तत्काल ग्रहण कर सकती है कि क्या उचित है, क्या अनुचित है और भावना गृहीत विषयमें होती है। मूर्तिमें परमात्माको

देखा जा सकता है बुद्धिसे और भावना की जा सकती है विश्वाससे। दुनियामें ऐसा कोई मत-मजहब नहीं, जो मूर्तिको परमात्माके रूपमें देखता हो। जो लोग देखते हैं, वे केवल प्रतीक रूपमें देखते हैं, श्रद्धासे देखते हैं या परमेश्वरकी उपासना करनेके लिए छोटे-मोटे प्रतीक रूपमें देखते हैं। अपने यहाँ जो मूर्ति है वह उपादानका ही एक रूप है। जैसे मिट्टी ही मिट्टीका खिलौना है, वैसे ही जगत्का मूल उपादान साक्षात् परमात्मा ही मूर्तिके रूपमें है। पीपलका पेड़, एक वैज्ञानिककी दृष्टिमें उसके शोधके अनुसार अमुक-अमुक तत्त्वोंका केन्द्र है। किन्तु भावुक भक्तके लिए साक्षात् वासुदेव है। एक जीवन्मुक्त महापुरुषकी दृष्टिमें जैसा उसका अपना शरीर है वैसा ही पीपलका पेड़ है। उसके लिए पीपलका पेड़ अपने आत्माका ही स्वरूप है। ब्रह्मज्ञानी तो सम्पूर्ण विश्वप्रपञ्चको साक्षात् अपरोक्ष अनुभव करता है कि वह उसके अपने आत्माका ही स्वरूप है।

यदि आप सोने-जागने खाने-पीने सोचने-विचारनेमें अयुक्त हो जाओगे तो न बुद्धि रहेगी और न भावना। फिर वह कितना रूखा-सूखा जीवन होगा। जिस जीवनमें बुद्धि नहीं, वह अन्धकारमय है और जिस जीवनमें भावना नहीं वह रुक्ष है। आध्यात्मिक साधना केवल बाहरके व्यक्तियोंको खुश करनेके लिए नहीं, यह तो अपने भीतर महती शान्तिका अनुभव करनेके लिए है। जो सावधान नहीं, प्रमादी हैं वे अयुक्तः कामकारेण अपने स्वच्छन्द मनके अनुसार आचरण करते हैं। उनके मनमें कब क्या आ जायेगा, इसका कुछ ठीक नहीं। उनके कितने संस्कार हैं, कितने सपने हैं, कितनी कल्पनाएँ हैं, उनके मनके भीतर कब क्या फुरफुरा जायेगा और उन्हें किस रास्तेपर चलनेको कह देगा— इसका पता नहीं। इसलिए मनमें एक प्रकारकी युक्ति होनी चाहिए और 'कामकार' नहीं होना चाहिए।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥

मनुष्यको मनमें जो आया वही नहीं करना चाहिए, अपितु उसे युक्तियुक्त कर्म ही करना चाहिए और कामके अधीन नहीं होना चाहिए। भगवान्‌को आसक्ति पसन्द नहीं। वे कहते हैं—**फले सक्तो निबध्यते**—जो फलमें आसक्त हो जाता है, वह बँध जाता है। बँधना दूसरेके साथ ही होता है। हम लोगोंने उड़िया बाबाजी महाराजसे एक साधुके बारेमें यह कहा कि यदि ये दूध न पीएँ तो इनका पेट साफ नहीं होता। तो बाबाने उत्तर दिया कि यह तो जेबी साधु बनेगा। जो दूध पिलावेगा, उसकी पाकेटमें रहेगा। यह पराधीन हो जायेगा। और, सचमुच वह साधु एक सेठके घरमें परतन्त्र हो गया। दोनों समय सेर-सेर भर दूध पीये, तब उसका पेट साफ हो। सेठका सिद्धान्त ही उसका अपना सिद्धान्त बन गया। उसको पराधीन होकर जीवन व्यतीत करना पड़ा। जो नशइल लोग होते हैं, वे इस तरहकी पराधीनता अपने जीवनमें स्वीकार करते हैं। यह चीज नहीं मिलेगी तो हम जिन्दा नहीं रहेंगे, यह खानेको नहीं मिलेगा तो हम जिन्दा नहीं रहेंगे—यह आदमी नहीं मिलेगा तो हम जिन्दा नहीं रहेंगे—इस तरहके अभ्यासजन्य सुखको भी आसक्ति बताया जाता है। जिनको यह अभ्यास हो जाता है कि हमको यह करना है, वह करना है—वे यदि न करें तो बहुत दुःखी होते हैं। अपने चित्तमें कहीं भी आसक्ति नहीं होनी चाहिए। तुम नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त परमात्माके अंश हो, तुम सच्चिदानन्दघनके स्वरूप हो। तुम्हें संसारमें कहीं भी आसक्त होकर हीन नहीं बनना। यदि आपको आसक्ति करनी ही है तो भगवान्‌से कीजिये। गोस्वामी तुलसीदासजीने कैसा बढ़िया कहा कि अगर आपको याचना करनी है तो केवल भगवान्‌से याचना कीजिये—

जग जाचिये कोऊ ना जाचिये तो जग जानकी जीवन नाहरे।
जेहि जाचत जाचकता जरि जाये जो जारत जोर जहानहि रे॥

दुनियामें किसीसे कुछ मत माँगिये। अगर माँगना हो तो केवल जानकीनाथ भगवान् रामचन्द्रसे माँगिये; क्योंकि उनसे याचना करनेके बाद याचना करनेकी वृत्ति जल जाती है और संसारका जो जोर है वह नष्ट हो जाता है। तो भाई, आसक्ति अगर करनी ही हो तो उसके पेटमें भगवान्को आने दो। सबसे पहली बात तो यह कि अपने जीवनमें आसक्ति हो ही नहीं और यदि हो तो परमात्मासे हो। अब उसके आगे नम्बर नीचे उतारना हो तो आसक्ति सद्‌गुणोंमें कीजिए। हालांकि वे भी दुःख देते हैं। आसक्ति सत्कर्मोंमें कीजिए, सत्पुरुषोंमें कोजिए। आसक्तिको औषध बनाकर सेवन कीजिए। आसक्ति नित्यका भोजन नहीं, औषध है। सत्कर्मसे, सत्पुरुषसे, सद्भावसे और सद्‌गुण आदिसे जो आसक्ति होती है वह औषधरूप है। किन्तु यह भी नित्य नहीं। जहाँ आसक्ति होगी, वहाँ दुःख तो होगा ही। हम देखते हैं कि जो लोग सत्पुरुषोंसे आसक्ति करते हैं, वे उनके मर जानेपर कितना रोते हैं। यह भी देखते हैं कि जिन लोगोंकी सत्कर्मोंमें आसक्ति होती है, उनसे एक दिन सत्कर्म छूट जाएँ तो उन्हें कितना रोना पड़ता है। आसक्ति असलमें रोगकी दवा तो है, परन्तु वह जीवनका सहज स्वरूप नहीं। इसलिए जो जिससे आसक्ति करेगा वह उससे बँध जायेगा और उसे वहाँ जाना पड़ेगा जहाँ वह मिलेगा। गीतामें कर्म करनेका सबसे बढ़िया ढंग बताया है—

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।

इसमें जो 'वशी' शब्द है वह हिन्दीमें दूसरी तरहसे चलता है। वशी उसे कहते हैं जो आत्मवश हो, जिसका जीवन उसके

अधीन हो, जिसकी इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि सब कुछ उसके अधिकारमें हो। एक बड़े धनी हैं। उनको मोटर चलाना नहीं आता। ऐसे तो और भी बहुत होंगे। जब वे घरमें-से, आफिसमें-से निकलते हैं और कभी ड्राइवर नहीं मिलता तो छटपटाने लगते हैं। जल्दी पहुँचनेके लिए ड्राइवरपर लाल-पीले होने लगते हैं। क्योंकि वे पराधीन हैं, उन्हें ड्राइवर लेकर जायगा तभी जा पायेंगे।

इसीलिए मनुजीने कहा स्ववशता–स्वाधीनता सुख है और पराधीनता–परवशता दुःख है—**सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्।** तो मनुष्यको वशी रहना चाहिए। वशी शब्दका अर्थ स्वतन्त्र है। अपने मनको, अपनी इन्द्रियोंको, अपने जीवनको वशमें रखकर चलना चाहिए। यदि कहो कि कर्मोंका क्या करें, तो इसका उत्तर है कि 'मनसा संन्यस्तं' अर्थात् मनसे सब छूटा हुआ हो और देखनेमें सब हो रहा हो।

रातके बाद, विश्रामके बाद, प्रातःकाल नींद टूटनेपर, बुद्धि ताजी रहती है और मन भी ताजा रहता है। मनुजी कहते हैं कि—

ब्राह्मे मुहुर्ते चोत्थाय धर्मार्थाननुचिन्तयेत्।

ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर धन और धर्मका चिन्तन करना चाहिए। आज क्या व्यापार करना है, क्या नहीं करना और 'कायक्लेशांश्च'—हमारे शरीरमें क्या तकलीफ होती है, वह क्या खानेपर, क्या करनेपर होती है तथा क्या खाने और क्या करनेसे नहीं होती, यह बात सबेरे सोच लेना चाहिए। इसी तरह आज हमको क्या धर्म करना है और कौन अच्छे-अच्छे काम करने हैं—यह सब भी प्रातःकाल सोच लेना चाहिए। अच्छा काम करना, शरीरके अनुकूल भोजन करना, रोगके दुःखके

हेतुओंसे परहेज करना और आरोग्यके साधनोंका सेवन करना, सकाम भाव नहीं। शरीर ठीक रहनेपर सबका सब ठीक रहेगा— **शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।**

मनुष्यका वशी होना आवश्यक है। केवल माला फेरनेका नाम सर्वोत्तम जीवन नहीं। आप लोग बुरा मत मानना। माला फेरनेवाले अवश्य फेरें। बहुत अच्छा है माला फेरना। कपड़े भी अंट संट पहनते हों तो पहनें किन्तु एक आध्यात्मिक नागरिकका जो स्वरूप होता है, उसका विस्मरण नहीं होना चाहिए। शान्त-चित्तसे बैठें और जो काम होना है, उसको मनमें डालें तथा मनको परमात्माकी प्रेरणामें डाल दें। अर्थात् कर्तव्यको मनमें और मनको परमात्मामें न्यस्त कर दें। न्यस्त शब्दका मूल अर्थ धरोहर रखना होता है। आजकल ट्रस्टोंका नाम न्यास रखते हैं। कबीरदास इसे छोड़ देने, रख देनेके अर्थमें बोलते हैं—

दास कबीर जतन सों ओढ़ी
ज्यों की त्यों धरि दीनि चदरिया।

मतलब यह है कि जीवनका भार अपने ऊपर न लेकर जब परमात्मापर छोड़ देंगे तो वह बहुत बढ़िया चलेगा और आपको सन्तोष होगा कि आपने अपना जीवन शक्त हाथोंमें समर्पित कर दिया है। **मनसा संन्यस्य**—अर्थात् मनके साथ-साथ अपने समग्र जीवनको परमात्मामें रख दो और मनसे, संकल्पसे जीवनके जो बोझ हैं, उनसे अपनेको छुड़ा लो। फिर जो सहज भावसे होता है होने दो।

यह छर भार तासु तुलसी जग जाको दास कहैं।

तुलसीदासजी कहते हैं कि यह क्षर भार, यह नाशवान वस्तुओंकी पोटली, मरने मिटनेवाली वस्तुओंका बोझ हम अपने सिरपर लादकर चलते हैं? नहीं जी, यह भार तो उसपर है,

जिसके हम सेवक हैं, दास हैं और जो हमारा परमेश्वर है। एक होती है आध्यात्मिक दृष्टि, दूसरी आधिदैविक दृष्टि और तीसरी आधिभौतिक दृष्टि। प्रकृति भी आध्यात्मिक है, आधिभौतिक नहीं। साधारण लोग इस बातको नहीं जानते। परमेश्वरकी शरणमें होना आधिदैविक है और नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मदृष्टिसे भाव विनिर्मुक्त हो जाना आध्यात्मिक है। प्रकृति बनावटी नहीं, सच्ची होनी चाहिए। हम लोग अपनी आदत बिगाड़कर काम करते हैं और कहते हैं कि यह तो हमारा नेचर है, प्रकृति है। न्यक्चर—बिगाड़ी हुई आदतका नाम प्रकृति नहीं होता। शरीरका नाम प्रकृति नहीं, इन्द्रियोंका नाम प्रकृति नहीं। ये तो प्रकृतिके विकार हैं। मनका नाम भी प्रकृति नहीं, यह भी प्रकृतिका विकार है। प्रकृति माने जगत्‌का सहज अवस्थान। जो अन्तःकरणसे भी सूक्ष्म है, उसको आध्यात्मिक नहीं कहेंगे तो आधिभौतिक कैसे कहेंगे? प्रकृति तो शरीरके मूल कारण रूपमें, जहाँ ईश्वर है, वहाँ साक्षी है। प्रकृतिसे जो कर्म होता है, वह सहज है और ईश्वरसे जो कर्म होता है वह हमारे लिए वरदान है। जो कर्म अपने सहज स्वरूपमें है, उसका तो कोई बोझ ही नहीं। मनसा संन्यस्यका अर्थ है कि पहले इसको आप समझ लीजिये और इससे परे होकर खूब आनन्दसे रहिये। दुनियामें दुःख कहीं नहीं। जितने दुःख प्रतीत होते हैं, सब अपने मनके बनाये हुए हैं। आपने कई चीज ऐसी पकड़ रखी है जो आपको दुःख दे रही है। गरीब लोग सोचते हैं कि इतना पैसा हो, तब हम सुखी होंगे। हमको ऐसा-ऐसा खाना मिलेगा, तब सुखी होंगे। हम दुःखके समाचार अखबारोंमें पढ़ते हैं, लोगोंसे सुनते हैं और कभी-कभी वह हमारे मनमें भी आ जाता है। लेकिन जब हम गम्भीरतासे विचार करते हैं तब देखते हैं कि दुःख कितना निराधार है। बहुधा लोग रोते हैं कि हमें खानेको ठीक नहीं

मिल रहा। अरे भाई, खाते नहीं तो जीवित कैसे हो? नहीं महाराज, पहले गेहूँकी रोटी खाते थे अब बेझरकी रोटी खानी पड़ती है। इसी तरह कइयोंको यह दुःख होता है कि हम टेरीकाट पहनना चाहते हैं और पहननेको गाढ़ा मिल रहा है। ऐसे लोग खाने-पहननेके बिना दुःखी नहीं होते, परन्तु गेहूँकी रोटी और घी-छाछके लिए दुःखी होते हैं। असलमें दुःख न तो शरीरसे होता है और न वस्तुसे होता है। अपितु हमारे मनमें जो यह नहीं वहका, ऐसा नहीं वैसाका आग्रह-दुराग्रह बैठ गया है, यही दुःखका हेतु है। हमने स्वयं दुःखको अपने पास बुला लिया और सुखको अपनेसे बहुत दूर कर दिया है। सुख-दुःखकी जो कल्पना है, वह हमारी ही पैदा की हुई है। वृन्दावनमें हमारे पास एक पण्डितजी थे। पुस्तकालयकी देखभाल किया करते थे। नाम था पण्डित तुलसीराम जी। उनको उन दिनों तीस रुपये मिला करते थे। उसीमें वे अपना और अपनी पुत्रवधूका गुजारा करते थे। साग कभी नहीं बनाते थे। जिस दिन चावल बनाते उस दिन रोटी नहीं और जिस दिन रोटी बनाते उस दिन चावल नहीं। खिचड़ी या दाल पकाते तो उसीमें आटेकी गोल-गोल करके डाल देते और मौजसे खा लेते। लेकिन जब हम कभी उनको दो आलू या दो टमाटर दे देते, वे खुशीसे नाचने लगते और कहते कि आज भगवान्‌की कितनी कृपा है कि आज हम दालमें टमाटर या आलू डालकर भोजन बनावेंगे। हम ऐसे लोगोंको भी जानते हैं, जिनको दो लाख मिल जाये तो कहेंगे कि ओहो चार लाख मिलना चाहिए था। यह तो बड़ा भारी घाटा हो गया। क्या यह दुःख है? भगवान्‌ने आँख दी, नाक दी, जीभ दी, कान दिये, दिल दिया, दिमाग दिया, ऐसा शरीर दिया, ऐसा मन दिया, ऐसी बुद्धि दी—इसको पानेपर यदि सन्तोष नहीं तो फिर कैसे सन्तोष होगा। तो जो वशी पुरुष होता है,

अपनेको वशमें रखकर, नियन्त्रित रखकर रहता है, वह—सुखमास्ते सुखं भुंक्ते, सुखमायाति सुखं याति च—वह सुखसे रहता है, सुखसे खाता है, सुखसे आता है, सुखसे जाता है।

नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन् न कारयन्।

यह शरीर भी एक गाँव है, पुर है और इसके नौ दरवाजे हैं। इसमें रहकर 'नैव कुर्वन् न कारयन्' होना है। इसमें किसीके ऊपर कोई बोझ नहीं। यदि आप अपने स्वरूपका ठीक-ठीक विचार करके देखें तो जैसे प्रकृतिमें सूर्योदय एवं सूर्यास्त होता है, चन्द्रोदय और चन्द्रास्त होता है और जैसे शरीरमें चेतना आती है और समयपर चली गयी है, वैसे ही सब काम बिल्कुल सहज भावसे हो रहे हैं। जब हम ईश्वरके काममें नुक्ताचीनी करते हैं कि ऐसे नहीं, वैसे होना चाहिए तब हमें दुःख होता है। जो ईश्वरकी ओरसे आ रहा है उसको स्वीकार करते चलें और अपनी ओरसे जो काम करते हैं उसमें थोड़ा सावधान रहें; जानबूझकर दूसरोंको तकलीफ न पहुँचावें तो दुःखी होनेका कोई कारण नहीं—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥ ५.१४
नादत्ते कस्यचित् पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥ ५.१५

मैं पहले गीताका एक श्लोक ज्यादा बोला करता था। वह दिनभरमें दस बार, बीस बार, पचास बार मेरे मुँहसे निकलता रहता। आप लोगोंको शायद अनुभव होगा कि यदि आप भगवान्‌का नाम, श्लोक, चौपाई अथवा महात्माओंका कोई वचन प्रातःकाल उठते ही बोल लें तो दिनभरमें कई बार उसकी याद आती है। अपने दिनको अच्छा बनानेके लिए अपना प्रातः-

काल अच्छा बनाना आवश्यक है। मैं जिस श्लोकका उच्चारण किया करता था वह गीताके चौथे अध्यायका चौदहवाँ श्लोक है।

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥

इसमें भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि हमारे जीवनमें जो कर्म हो रहे हैं, वे न तो मुझको कर्ता बनाते हैं और न उनका मुझसे कोई लेप है। मुझे कर्मफल मिले—ऐसी स्पृहा नहीं। मैं तो कर्मके लिए कर्म करता हूँ। भगवान्के इस कथनका तात्पर्य हमारे लिए यह है कि हम जिन कर्मोंको अच्छा समझते हैं, लोकोपकारी समझते हैं, उन्हें करते हैं। जब हम कर्म किये बिना रह नहीं सकते तो जो अच्छे काम हैं उन्हें करना हमारा धर्म है। हमारे कर्मका फल हमको मिले या न मिले अथवा अन्य किसीको मिले—इससे हमारा कोई लेनदेन नहीं। हम रास्ते पर झाड़ू लगाते हैं, उसका लाभ हमारे दुश्मनको मिले तो क्या है? हमारा दुश्मन उस रास्तेपर चलेगा और उसको आराम मिलेगा, तो हमारे लिए और भी आनन्दकी बात है। हमें तो इस बातका सन्तोष है कि हमने अच्छा काम किया। कर्मफलमें हमारी कोई स्पृहा नहीं। हमने बाँसुरी बजायी, उसकी ध्वनि सुनकर हमारा दुश्मन खुश होगा कि हमारा दोस्त खुश होगा, इससे हमें कोई मतलब नहीं। हमारा मतलब तो इससे है कि हमने अपनी बाँसुरीके द्वारा संसारमें सुखका संचार करके अपने कर्तव्यका पालन किया। कर्मफलमें कोई स्पृहा न होनेका कारण यह है कि न तो मैं भोक्ता हूँ और न कर्ता हूँ।

भगवान् श्रीकृष्णके कथनका आशय यह है कि मैं बाँसुरी बजाता हूँ, किन्तु उसकी मधुर ध्वनिका सुख कहाँतक जायेगा, कोई मतलब नहीं। वह मधुर ध्वनि चराचर सृष्टिको झंकृत करे, सारे आकाशमें गूँजे, उससे पेड़-पौधे बढ़ें, पशु-पक्षी आनन्दित हों, गोपियाँ सुखी हों, इसीलिए मैं बाँसुरी बजाता हूँ। उसको

बजानेका अभिमान तो मुझमें है ही नहीं। यही मेरा असली स्वरूप है। और, इसको जो जान लेता है वह कर्मसे आबद्ध नहीं होता। मुझको एक भक्तने कहा था कि इस श्लोकमें भगवान् कृष्णने अपने लिए कहा है, यह तुम्हारे लिए नहीं! तुम बारम्बार क्यों दुहराते हो? अब उनको कौन समझावे कि इसमें भगवान्ने हम सबके लिए संदेश दिया है—**इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते**—अर्थात् जो मुझे जानता है वह कर्मबन्धनसे नहीं बँधता। वह भी मेरी तरह कर्ता-भोक्ता नहीं होता। इसका अर्थ यह है कि जो श्रीकृष्णको अकर्ता-अभोक्ता जानता है, वह स्वयं भी अकर्ता-अभोक्ता हो जाता है। वह भी कर्मसे, भोगसे आबद्ध नहीं होता। अब यदि यह कहो कि हमारे यह जाननेमात्रसे कि वे बड़े दानी हैं, बड़े उदार हैं, अकर्ता हैं, अभोक्ता हैं, हम दानी, उदार, अकर्ता और अभोक्ता कैसे हो जायेंगे? हमारा उनका कोई ऐसा रिश्ता होना चाहिए, सम्बन्ध होना चाहिए कि उनमें जो गुण हैं वे हममें भी हों। ठीक है। किन्तु यदि हम और वे मूलतः कहीं एक न होते तो उनको अकर्ता, अभोक्ता जाननेपर हम स्वयं अकर्ता अभोक्ता हो जायेंगे—यह बात कैसे मिलती? वस्तुतः हम दोनों एक हैं। इसलिए जब श्रीकृष्ण यह कहते हैं कि मुझे कर्म लिप्त नहीं होते और कर्मफलमें मेरी स्पृहा नहीं, तो यह कथन केवल उनके लिए नहीं, हमारे लिए भी होता है। और यहाँ तो उन्होंने स्पष्ट ही कर दिया है—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥ ५.१४

ईश्वर किसी जीवको न तो कर्ता बनाया है, न भोक्ता बनाया है, न कर्म बनाया और न कर्मका फल बनाया। वह तो हमारा स्वभाव है। हम अपनी वासना और पसन्दके अनुसार कर्मोंमें जुड़ जाते हैं।

श्रीकृष्णने कर्म-बन्धनसे छूटनेका यह कितना बढ़िया नुस्खा बताया है—इसपर आप लोग ध्यान दें। ●

प्रवचन-८

आत्मा ज्ञान-ज्योति है, अविनाशी है और इसका किसी भी प्रकारके कर्मसे संयोग नहीं होता—यह बात बतानेके लिए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥ १४ ॥
नादत्ते कस्यचित् पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥ १५ ॥
ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥ १६ ॥
तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥ १७ ॥

इसमें पहले श्लोकका अर्थ कल भी बताया गया कि परमेश्वर किसीको कर्ता नहीं बनाते, किसीके कर्मकी सृष्टि नहीं करते और किसीके साथ कर्मफलका संयोग नहीं जोड़ते। स्वभाव ही प्रवृत्त हो रहा है। लोग कहते हैं कि ईश्वरने सृष्टि कब बनायी? कहाँ बनायी? पहले किसको बनाया? इसका उत्तर वैदिक धर्म यह देता है कि कोई भी चीज पहले-पहल बनी दीखती नहीं, उसका बीज ही मिलता है। पहली भैंस कब पैदा हुई, यह किसीने नहीं देखा। भैंससे भैंस उससे फिर भैंस ऐसे ही पैदा होते देखा जाता है। जब पहलेसे बीज रहता है तब उससे अङ्कुरका उदय

होता है। इसीलिए पूर्व-पूर्व बीजोंसे अर्थात् अनादि परम्परासे यह सृष्टि चल रही है। ईश्वर बिना बीजके सृष्टि नहीं बनाता—

सूर्यचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवञ्च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः॥

यदि कहो कि ईश्वर स्वतन्त्ररूपसे सृष्टि क्यों नहीं बनाता? वह तो सर्वशक्तिमान है, जब जैसी चाहता वैसी सृष्टि उत्पन्न हो जाती। तो, इसका उत्तर यह है कि यदि ईश्वर अपने मनसे बिना किसी निमित्तसे सृष्टि बना देता तो एकको दुःखी, एकको सुखी कैसे बनाता? एकको गीध एकको गाय कैसे बनाता? यदि ईश्वर स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी मरजीसे ही किसीको बड़ा, किसीको छोटा, किसीको दुःखी, किसीको सुखी बनाता है तो वह एक वर्गके साथ पक्षपात और दूसरे वर्गके साथ अन्याय करता है। सृष्टि-निर्माणका कोई-न-कोई निमित्त तो होना चाहिए न! किन्तु ऐसा है नहीं। सृष्टिकी धारा अनादि परम्परासे बह रही है और यहाँ सब लोग अपने-अपने स्वभावके अनुसार बरत रहे हैं। कुमुदिनी कुमुदिनीमें-से निकलती है और वह रात्रिके समय चन्द्रमाको देखकर खिल जाती है। कमलसे कमल होता है और वह सूर्यको देखकर विकसित हो जाता है। उसमें कर्तृत्वकी सृष्टि किसीने नहीं की—**स्वभावस्तु प्रवर्तते** यह तो उसका स्वभाव है। भगवान् श्रीकृष्णने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चारों वर्णोंके कर्मोंको स्वभावज बताया और कहा कि वे सब अपने-अपने स्वभावके अनुसार कर्म करते हैं—ब्रह्मकर्म-स्वभावज, क्षात्रकर्म-स्वभावज, वैश्यकर्म-स्वभावज और शूद्रकर्म-स्वभावज। श्रीरामानुजाचार्यने स्वभाव शब्दका अर्थ इस प्रकार किया है कि जन्म-जन्मके अभ्याससे जो संस्कार सञ्चित है, उनसे व्यक्तिके

जीवनमें स्वभावका उदय होता है और वह अपने स्वभावके अनुसार कर्म करता है।

अब एक बात आपको सांख्यवादकी बताते हैं, हमारे दर्शन पृथक्-पृथक् हैं और सब अलग-अलग ढंगसे अपने-अपने सिद्धान्तकी स्थापना करते हैं। सांख्यका कहना है कि संसारमें जितनी वस्तुएँ बनती हैं वे दो तरहसे बनती हैं। एक तो प्रकृतिके स्वभावसे बनती हैं—जैसे आकाश, वायु, अग्नि जल, पृथिवी और स्त्री-पुरुष आदि। परन्तु इनमें मेरा तेराका जो सम्बन्ध है—यह प्रकृति नहीं बनाती। प्रकृतिमें पेड़ बने हुए हैं। कौन पक्षी किस पेड़को पसन्द करता है, किसपर बैठता और कहाँ घोसला बनाता है, इससे प्रकृतिका कोई सम्बन्ध नहीं। यह तो पक्षीकी अपनी पसन्द है। अतः इस संसारमें जितने नाते हैं, ममताकी, गुणोंकी जो सृष्टि है—यह प्रकृतिकी बनायी हुई नहीं। फिर किसकी बनायी है? यह अविवेककी बनायी हुई है। यहाँ दो परम्पराएँ हैं—एक प्रकृत-परम्परा और एक मनुष्यकृत-परम्परा-जीवकृत-परम्परा। जीवने अपनी ओरसे मान लिया है कि यह मेरी है और यह तेरी है। प्रकृतिने सोना बनाया, चाँदी बनायी, पशु-पक्षी आदि बनाये; परन्तु अपने परायेका भेद-भाव नहीं बनाया। मेरा-तेरा और तज्जन्य सुख-दुःख प्राकृत सृष्टिमें नहीं हैं, ये सब जीवकृत हैं। अनादि परम्परासे जैसा स्वभाव चल रहा है उसीके अनुसार सृष्टि होती है और मनुष्य अपना सम्बन्ध पदार्थोंसे जोड़ लेता है तथा विवश हो जाता है—

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यत्यवशोऽपि तत्॥

मनुष्य अपने स्वभावमें इतना आबद्ध हो जाता है कि यदि वह एककी निन्दा करेगा तो दूसरेकी निन्दा भी करेगा ही। जिसको

प्रशंसा करनेका अभ्यास है वह एककी प्रशंसा करेगा तो दूसरेको भी करेगा। उसके जीवनमें स्तुति निन्दा करनेका जो अभ्यास है, वह उससे स्तुति निन्दा करायेगा ही। भले ही वह कहीं भी रहे, उसके लिए किसी-न-किसीको ढूँढ़ लेगा। एक सज्जन थे। उनकी किसी-न-किसीसे रोज लड़ाई हो जाती थी। एक दिन ऐसा प्रसंग आया कि साथके सब लोग ऐलीफेन्टाकी गुफा देखने चले गये, मैं और वे दो ही जने रह गये। उनके साथ लड़ाई करने योग्य कोई नहीं रह गया और वे मुझसे छोटे थे। फिर भी भिड़ गये। जब गर्म हुए तब मैंने कहा कि 'भाई आज कोई नहीं, मैं ही हूँ, मुझे तो बचाओ।' यह है स्वभावकी विशेषता। स्वभावस्तु प्रवर्ततेका अर्थ है—

प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति।

मनुष्यका जैसा स्वभाव बन जाता है, वैसा वह काम करता है। कोई नहीं होगा तो वह पेड़को ही भला-बुरा कह देगा—यह पेड़ अच्छा है, यह बुरा है। एककी स्तुति कर देगा, एककी निन्दा कर देगा। वह बिना किये मान नहीं सकता। देखो लोहेका या ताँबेका तार और बिजली है। बिजली लोहे या ताँबेके तारमें दौड़ती है। यह उसका स्वभाव है। परन्तु वह किस मशीनको घुमावे, किसीसे हवा खींचे और किसीसे गर्म या ठंडा करे, यह बिजलीका नहीं, उस मशीनका बनाया हुआ स्वभाव है। गर्म या ठंडा करना यन्त्रमें होता है और यन्त्रका संचालन बिजलीसे अर्थात् परमात्माकी सत्तासे होता है। इसलिए निश्चय ही परमात्माकी सत्तासे, उसके प्रकाशसे, विश्व प्रकाशित होता है। विश्व है ऐसा मालूम पड़ता है, परन्तु इसमें सबने अपने-अपने स्वभावको ही प्रकट किया है। श्रीमद्भागवतमें एक प्रसंग आया जहाँ भगवान् श्रीकृष्णको चुप हो जाना पड़ा, हार जाना पड़ा। वे काममें तो नहीं हारे, परन्तु बातचीतमें हार गये।

जब अपने पाँवसे कालिय नागको कूटने लगे तब उसने उनसे पूछा कि इस गुणमयी सृष्टिको आपने रचा है कि नहीं ? रचा है। यह सर्पयोनि आपने बनायी है कि नहीं ? बनायी है। इसमें आकृति, ओज, वीर्य, स्वभाव आपने डाला है कि नहीं ? डाला है। तब हमारा तमोगुणी विषैला स्वभाव कैसे बना ? हमें क्या उलाहना है ? 'अनुग्रहं निग्रहं वा मन्यसे तद्विधेहि नः। आप चाहे हमारे ऊपर अनुग्रह करो, चाहे निग्रह करो, हमको तो तुमने जैसा बनाया है वैसे हैं।' भगवान् हँसने लगे और बोले अच्छा, अब तुम यहाँ मत रहो। उन्होंने उसके विषको नष्ट नहीं किया, उसका डँसना नष्ट नहीं किया, उसको निर्भय करके दूसरी जगह भेज दिया। अस्तु, प्रकृतिसे, ईश्वरसे जो सृष्टि बनती है, उसमें दोषी ईश्वर नहीं, प्रकृति नहीं। विकार तो तब आता है जब हम अपने बने हुए स्वभावका ठीक उपयोग नहीं करते। स्त्री-पुरुष ईश्वरके बनाये हुए हैं किन्तु पति-पत्नीका सम्बन्ध मनुष्य स्थापित करते हैं और उनके सुख-दुःख इसपर निर्भर करते हैं कि वे अपने सम्बन्धका निर्वाह कैसे करते हैं। वेदान्तमें, पंचदशीमें ईश्वरसृष्टि और जीवसृष्टिका वर्णन किया गया है। वस्तु ईश्वर-सृष्टि होती है और जीवसृष्टि मेरी-तेरीवाली है। ईश्वरसृष्टि किसीको दुःख नहीं देती और जीवसृष्टिमें दुःखकी उत्पत्ति हो जाती है। क्योंकि यह अकुशल है, काम करनेमें बहुत निपुण नहीं।

अब आप इस प्रकाशमें देखो कि आपके जीवनमें जो दुःख है, वह क्या ईश्वरका दिया हुआ है ? क्या प्रकृतिका दिया हुआ है ? **प्रज्ञापराध एषः**—कहीं-न-कहीं समझमें गलती है। जिसके कारण हम दुःख देते हैं, दुःख लेते हैं। दुःखके समय दुःख देनेवाले निमित्तका सत्यानाश नहीं करना चाहिए, अपने मनको ठीक

करना चाहिए क्योंकि वही दुःखको ग्रहण करता है। यदि हमारे मनमें कोई गड़बड़ी नहीं, तो दुःख होनेका कोई कारण नहीं। दुःख मानस है, दुःखकी जब अनुभूति होगी तब मनमें ही होगी चाहे कोई मारे, चाहे कोई कड़वी बात कहे। चाहे धनहरण हो, चाहे जनमरण हो, चाहे भवन-दहन हो, उसमें दुःखी हमारा मन ही होगा। आपको मीठा बनाना है तो मनको मीठा बनाना पड़ेगा। सृष्टि तो जैसी है, वैसी है, वह चाहे जैसी दीखे, अपने मनको मीठा बना लेना चाहिए। आध्यात्मिक उन्नतिका अर्थ अपने मनका मधुर हो जाना, प्रकाशमय हो जाना ही है। घट-पटादिको ईश्वर नहीं बनाता। मैं घट-पटका कर्ता हूँ, यह भी ईश्वर नहीं बनाता। मैं कर्मफलका संयोगी हूँ दुःखी हूँ, सुखी हूँ, यह भी ईश्वर नहीं बनाता। न ईश्वर कर्ता है, न कारियता; न भोक्ता है, न भोजयिता। वह तो नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त ब्रह्म है।

अच्छा, यदि हम ईश्वरको कुछ देना चाहें तो? यह देना-लेना भी जबतक मनुष्य अनुभूतिके ऊँचे और गम्भीर स्तरमें नहीं पहुँचता तभीतक प्रतीत होता है। आपको यदि हम अपने अब-तकके अनुभवकी बात बतावें तो वह यह है कि जहाँ कोई देने-वाला नहीं देता, वहाँ भी मिलनेवाली चीज मिलती है। जहाँ दुःख देनेवाला नहीं होता, वहाँ भी मन रातको नींद टूटनेपर दुःखकी कल्पना कर लेता है और जहाँ कोई सुख देनेवाला नहीं होता, वहाँ भी मन सुखकी धारामें बहने लगता है। आनेवाली चीज आती है, जानेवाली चीज जाती है—**अहं करोमीति वृथाभिमानः। स्वकर्मसूत्रग्रथितो हि लोकः।** यह जो मैं करता हूँ-का अभिमान है, यह बिल्कुल झूठा है—

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥ (५.१५)

जहाँ बड़े प्रेमसे खिलानेवाले होते हैं, वहाँ भी कभी भूखे रह जाना पड़ता है और जहाँ कोई खिलानेवाला नहीं होता, वहाँ भी रोटी आ जाती है। अभिमान न लेनेवालेका ठीक है, न देनेवालेका। वह तो सर्वथा मिथ्या है। शांकर सिद्धान्तकी रीतिके अनुसार स्वभाव शब्दका अर्थ अनिर्वचनीय माया है, अविद्या है, प्रकृति है। श्रीरामानुजाचार्यके मतानुसार स्वभाव अनेक जन्मके कर्मोंसे सञ्चित है और वह बन चुका है। हमको एक महात्माने प्रसन्न होकर यह बात बतायी थी कि माया-माया सुनकर घबराना नहीं चाहिए। माया माने अपना मन ही होता है। यह संसार मायाने बनाया है, इसका अर्थ है कि इसको हमारे मनने बनाया है। यह दोस्त, यह दुश्मन, यह सुख और यह दुःख—इन सबकी सृष्टि मन ही करता है—**मनः सृजति कर्माणि।** शास्त्रोंमें जो यह लिखा है कि सृष्टि मायाकी बनी है, इसका यही अर्थ है कि मायासे सृष्टि बनी है। महात्माने मुझपर बहुत प्रसन्न होकर वरदान देनेकी भावनासे बताया था कि यह सारा-का-सारा तुम्हारे मनका ही खेल है। यदि कोई सोनेका पहाड़ प्राप्त करके सुखी होता है तो कोई छोड़कर सुखी होता है। छोड़नेवालेको यह कल्पना नहीं होती कि पानेवाला सुखी क्यों होता है। वह उसकी प्रसन्नताका ठीक-ठीक कारण नहीं समझ पाता। इसी प्रकार पाकर खुश होनेवाला यह सोच नहीं सकता कि त्याग करनेपर भी सुख होता है। इसलिए अभिमानके चक्करमें न पड़कर यह अनुभव करना चाहिए कि—**स्वभावस्तु प्रवर्तते।** स्वभाव ही सबको प्रवर्तित करता है।

अर्जुनने आठवें अध्यायके प्रारम्भमें प्रश्न किया—**किमध्यात्मम्**—अध्यात्म क्या है? उसके उत्तरमें भगवान् श्रीकृष्णने कहा—**स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते**—स्वभावका ही नाम अध्यात्म है।

अध्यात्म माने स्वभाव, तो स्वभाव माने क्या हुआ ? मन। ये सब जो संस्कृतके शब्द हैं, इनका ठीक-ठीक अर्थ हृदयंगम न होनेसे ही लोग समझते हैं कि न जाने इनमें क्या है ? तो **आत्मनि शरीरे इति अध्यात्मं** अर्थात् जो वस्तु शरीरमें ही रहती है, उसका नाम अध्यात्म है। हमारे देहके भीतर कुछ ऐसी मनोवृत्तियाँ हैं, जो संसारमें हमने यह किया, वह किया, यह बनाया, वह बनाया, यह सुख पाया, वह दुःख पाया—इस तरहका अभिमान बना लेती है। **स्वभावस्तु प्रवर्तते** का अर्थ है कि हमारा मन ही दुनिया-का खेल रच लेता है। जिसका मन ठीक है, उसके लिए सारा दुनिया ठीक है।

आज प्रारम्भमें जो चार श्लोक प्रस्तुत किये गये हैं, उनके पहले श्लोकमें प्रभुः और दूसरे श्लोकमें विभुः शब्द हैं। यद्यपि ये एक ही परमात्माके नाम हैं, तथापि इनमें अन्तर करना हो तो यों कह सकते हैं कि प्रभुने कर्म, कर्मफल, कर्मसंयोगकी सृष्टि नहीं की। यह सृष्टि ईश्वरकृत नहीं, और यह जो विभु है उसके साथ तो किसीका सम्बन्ध ही नहीं होता। विभु माने व्यापक आत्मा। **विभवति इति विभुः**—जो त्रिविध पदार्थोंमें एक ही रहता है। **विविधेषु भवति इति विभुः, विशिष्टं भवति इति विभुः**। जो अनेकमें एक है, उसका नाम विभु है। जो वस्तु विभु होती है वह न तो पाप लेती है और न पुण्य लेती है। अर्थात् आत्माका ऐसा स्वरूप है कि वह न पापी होता है और न पुण्यात्मा। आत्मा तो नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त है। यदि आप गीताकी यह बात मानते हो कि—**न जायते म्रियते वा कदाचित्**—आत्माका जन्म और मरण नहीं होता तो कर्मका सम्बन्ध आप कैसे मानोगे ? कर्मका सम्बन्ध मानोगे तो जन्म भी मानना पड़ेगा और मृत्यु भी माननी पड़ेगी। कर्मके अनुसार जो जन्म

मरण होता है, वह तो शरीरका होता है। मन कभी सोता और कभी जागता है। आत्मा कभी सत्य और मिथ्याके भेदमें नहीं होता। आत्मा तो ज्यों-का-त्यों रहता है।

यदि आप पुण्यात्मा होनेका अभिमान करोगे तो कभी बुरा काम होनेपर पापी होनेका अभिमान भी करना पड़ेगा और यदि पापी होनेका अभिमान करोगे तो कभी श्रेष्ठ काम करनेका, पुण्यात्मा होनेका अभिमान भी करना पड़ेगा। वस्तुतः बचनेकी चीज अभिमान ही है। अभिमान केवल वाणी और कर्म द्वारा ही प्रकट नहीं होता। मनमें भी अभिमानकी वृत्ति नहीं होनी चाहिए। अभिमान करनेका मतलब है अपनेको छोटा बनाना, परिच्छिन्न बनाना। अभि उपसर्गके साथ जो मान है, उसका अर्थ है माप। हम साढ़े तीन हाथके शरीर हैं, हम सौ या पचास बरसके हैं, हम डेढ़ दो मनके हैं—इसका नाम अभिमान है। कद, वजन, उम्र आदिको अपने साथ जोड़ लेनेका नाम अभिमान है। आप जब अपनेको इस अभिमानसे मुक्त करके विभुके रूपमें शुद्ध आत्माके रूपमें अनुभव करेंगे तब आपके साथ कर्म नहीं जुड़ेंगे —

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।

जैसे आसमानमें सूय प्रकाश देता हुआ विचरता है, चन्द्रमा चाँदनी फैलाता हुआ विचरता है, और ये दोनों प्रकाश अथवा चाँदनी देनेका अभिमान नहीं करते, वैसे ही मनुष्यका जीवन निरभिमान होना चाहिए। मनुष्यका जीवन सूर्यके समान, चन्द्रमाके समान है। इसीलिए वेदने कहा—**स्वस्ति पन्थानमनुचरेम् सूर्याचन्द्रमसाविव।** सूर्य और चन्द्रमाके समान हम इस सृष्टिमें रहें। अपने भीतरसे बिना निकाले ही प्रकाश निकलता है, उससे सृष्टिको प्रकाशित होने दें। हमारी आत्मासे बिना दिये ही

एक आनन्द निकलता है उससे सृष्टिको आह्लादित होने दें। किन्तु न देनेवाला बनें, न लेनेवाला, अपने सहज स्वभावको प्रकट होने दें।

नादत्ते कस्यचित् पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥ (५.१५)

प्रश्न होता है कि जब मनुष्य इतना प्रकाशवान् और आनन्दमय है तो वह इस संसारमें दुःखी क्यों है? ईश्वरने दुःख दिया नहीं, आत्मा दुःखी है नहीं, प्रकृति दुःख देती नहीं, तो यह दुःख नामकी वस्तु कहाँसे आ गयी? उत्तर है एक अन्धेरा छाया हुआ है। अन्धेरा कोई ठोस वस्तु नहीं, उसमें कोई वजन नहीं होता, उसकी कोई निश्चित लम्बाई-चौड़ाई नहीं होती। उम्र भी नहीं होती। वह तो रोशनी आयी और गायब हो गया। अन्धकार प्रकाशके भयसे भागता रहता है। उसका कोई स्थान नहीं, अज्ञानमें वह अवश्य निवास करता है—**अज्ञानेनावृतं ज्ञानं**। इसीलिए वेदमें वर्णन आया कि **नीहारेण प्रावृता जल्प्या असुतृपाः चरन्ति** अर्थात् एक ऐसा कुहरा है जिसने लोगोंकी बुद्धिको ढक दिया है। लोग केवल बात करनेमें बड़े निपुण हैं। अपनेको दुःखसे बचानेकी विद्या उन्हें नहीं आती। **असुतृपाश्चरन्ति**—वे केवल अपनी इन्द्रियोंको तृप्त करनेमें लग गये हैं और यह करो, यह करो, के कर्मशासनके अधीन हो गये हैं। उन्हें अपना स्वरूप नहीं दिखायी देता।

दुःखका कारण है अज्ञान। यदि आप किसी वेदान्तीसे पूछने जाओगे कि अज्ञान क्या होता है तो वह अज्ञानकी ऐसी परिभाषा आपको बतावेगा कि आपको उसे समझनेमें वर्षों लग जाएँगे। वेदान्तकी परिभाषाके अनुसार अनादि, भावरूप ज्ञाननिवर्त्य अनिवर्चनीय ज्ञान क्या है? यह समझनेमें बड़ी कठिनाई होगी।

वेदान्तकी परिभाषाके अनुसार—**भ्रमोपादानत्वं अज्ञानत्वं ज्ञान-निवर्त्यत्वं अज्ञानत्वं**—जो भ्रमका उपादान कारण है उसको अज्ञान कहते हैं। जो ज्ञान होनेपर मिट जाए उसका नाम अज्ञान है। इस तरह अज्ञानकी परिभाषा करनेमें आपको बहुत कठिनाई पड़ेगी। लेकिन आप उसको थोड़ेमें ऐसा समझ लो कि समझ-दारीकी कमी अथवा नासमझीका नाम अज्ञान है। हमने यह किया—यहाँ भी अज्ञान है और हम दुःखी या सुखी हो रहे हैं, भोक्ता हैं—यहाँ भी अज्ञान है। अज्ञान भावरूप है और यह ज्ञानको ढक देता है। मतलब यह कि नासमझीने हमारे स्वरूपको ढक दिया है। इसका फल यह हुआ कि—**तेन मुह्यन्ति जन्तवः**—मनुष्य मनुष्य नहीं रहा, जन्तुके समान हो गया। जैसे कीचड़में केंचुआ बिलबिलाता रहता है, वैसे ही मनुष्य केवल नासमझीसे दुःख-सुखके चक्करमें बिलबिला रहा है। संसारमें ऐसी कोई वस्तु है ही नहीं, जो दुःख दे। मौत कभी आती नहीं। कोई बता दे कि हमने अपनी मौत देखी है। ऐसा कोई माईका लाल न अभीतक पैदा हुआ, न होगा, जिसने अपनेको मरते देखा हो। क्योंकि 'हम मर गये' यह कहना बनता ही नहीं। यदि मर गये तो हो कैसे? जिसको मर गये मालूम पड़ता है वह तो जिन्दा है। वेदान्तियोंका कहना है कि मृत्यु अनुभवका विषय ही नहीं। तब हम मरते हैं, यह बात कैसे होती है? ऐसे होती है कि हम दूसरेके शरीरको छूटते देखते हैं और अपनेको शरीर मानकर मरनेकी कल्पना कर लेते हैं।

अच्छा, अब एक दूसरी बात देखो। 'मैं जड़ हूँ'—यह अनुभव कभी किसीको हो ही नहीं सकता। यह भी अनुभवके क्षेत्रसे बाहर है। यह एक आदमीकी बात नहीं, दोकी भी नहीं, समग्र सृष्टिकी बात है कि कोई भी जीवात्मा अपनी जड़ताका अनुभव

नहीं कर सकता। क्योंकि जब वह 'मैं जड़ हूँ'—यह अनुभव करेगा तो उस समय उसका अनुभव विद्यमान रहेगा और अनुभव जड़का धर्म नहीं, चेतनका धर्म है। मैं बेहोश हो गया, मूर्च्छित हो गया, यह भी मालूम पड़ता है। मैं मूर्ख बन गया, यह भी मालूम पड़ता है। यदि मालूम पड़ना नहीं रहेगा तो पीछे उसकी याद भी नहीं आवेगी। इसलिए 'मैं मर गया'—यह अनुभवके क्षेत्रमें है नहीं। 'मैं जड़ हूँ'—यह भी अनुभवके दायरेसे बाहर है। 'मैं अप्रिय हूँ'—यह भी अनुभवकी सीमामें नहीं। हम किसी एकके अप्रिय होंगे, दोके अप्रिय होंगे, अमुक अपनी मूर्खतासे हमको अप्रिय समझता होगा—ऐसी मान्यता हमारी होती है। तो अपनी मृत्युका अनुभव न होना सत् है, अपनी जड़ताका अनुभव न होना चित् है और अपनी अप्रियताका अनुभव न होना आनन्द है, अर्थात् आत्मा बिलकुल सच्चिदानन्द है। **अज्ञानेनावृतं ज्ञानं** का अर्थ है कि हम अपने-आपको जानते ही नहीं। यदि हम देशको जानते हैं तो छोटे कैसे हो सकते? कालको जानते हैं तो हमारी उम्र कैसे हो सकती है? वस्तुओंको जानते हैं तो हमारा वजन कैसे हो सकता? हम तो नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मदेव हैं। नन्हा-मुन्ना मानकर ही मोहके चक्करमें पड़ जाते हैं। हम नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मा होते हुए भी मनुष्यतातकसे वंचित हो जाते हैं और जब मनुष्य भी नहीं रहते तब क्या हो जाते हैं? **तेन मुह्यन्ति जन्तवः**—मोहग्रस्त होकर जन्तु बन जाते हैं, जानवर बन जाते हैं। मोहसे ग्रस्त क्यों होते हैं? इसलिए कि हमारी नासमझी काम कर रही है। अज्ञान माने नासमझी। भ्रम माने उलटी समझ। एक वस्तुको दूसरी वस्तु समझ लेना पीतलको सोना समझ लेना—इसका नाम भ्रम है और पीतलको ठीक-ठीक न पहचानना—इसका नाम अज्ञान है। भ्रमके पूर्व अज्ञान रहता है। अज्ञानसे ही भ्रमकी उत्पत्ति होती

है। यह हिन्दूधर्मकी खास विशेषता है कि जो समझदारीका तिरस्कार करता है उसे वह जन्तुकी संज्ञा दे देता है। ज्ञानकी इतनी महिमा संसारके किसी भी मजहबमें नहीं। दूसरे मजहब प्रायः श्रद्धा और विश्वासके आधारपर चलते हैं, किन्तु हमारा वैदिक धर्म केवल श्रद्धा-विश्वासपर नहीं, ज्ञानपर आधारित है। यह ज्ञानके प्रकाशको, ज्ञानकी महिमाको प्रकट करता है। इसकी मान्यता है कि केवल ज्ञानसे ही मनुष्य सम्पूर्ण दुःखोंसे मुक्त हो जाता है, परमानन्दको प्राप्त कर लेता है—

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत् परम्॥ ५.१६

ज्ञान प्राप्त होना चाहिए और उससे अज्ञानका नाश होना चाहिए। मध्वाचार्यने इस ज्ञानको परोक्ष ज्ञान कहा। श्रीरामानुजाचार्यजी भी इसे परोक्ष ज्ञान ही मानते है। शंकराचार्य इसको वृत्ति ज्ञान मानते हैं। भिन्न-भिन्न सम्प्रदायोंके सिद्धान्तोंके साथ फिट बैठानेके लिए शब्दोंकी व्याख्या करनी पड़ती है।

तो पहली बात यह है कि आप ज्ञानके अधिकारी हैं। आप यह न समझें कि आपको ज्ञान कैसे होगा? ज्ञान पढ़े-लिखेको ही होता हो, सो बात नहीं। पढ़े-लिखे लोग भी अज्ञानी होते हैं और अनपढ़ लोगोंको भी ज्ञान हो जाता है। दूसरी बात यह कि यदि आपके मनमें हीनताकी भावना हो—हम तो समझते हैं कि नहीं होगी, क्योंकि आप साक्षात् परमात्माके स्वरूप हैं, शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मा हैं, परम पवित्र हैं—फिर भी आप समझते हों कि मैं तो पापी हूँ, दीन हूँ, हीन हूँ, नासमझ हूँ, तो आप गीताके इस श्लोकपर ध्यान दीजिए—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि॥

यदि दुनियाके बड़े-बड़े पापियोंमें-से छाँट-छाँटकर तीन पापी अलग कर लिये जायँ और उन तीनोंमें भी जो सबसे बड़ा पापी हो—वह केवल पापकृत और पापकृत्तर ही नहीं पापकृत्तम अर्थात् सबसे बड़ा पापी हो तो उसके लिए भी चिन्ताकी कोई बात नहीं। गीतामें श्रीकृष्णने बड़े-बड़े पापियोंको आमन्त्रित किया है, आश्वासन दिया है कि आओ-आओ हमारी इस ज्ञान-नौकापर बैठ जाओ। तुम्हारे सारे पाप, सारे दुःख दूर हो जाएँगे, सारी वासनाएँ मिट जाएँगी और सारे अज्ञानका निवारण हो जाएगा। श्रीकृष्ण कहाँ कहते हैं कि तुम इस ज्ञानप्लवपर, ज्ञानकी नावपर बैठने योग्य नहीं हो अथवा हम तुमको इसपर नहीं बैठायेंगे या तुम इसपर बैठनेके अनधिकारी हो। उन्होंने तो सबको अधिकार दे दिया कि दुनियाका जो सबसे बड़ा पापी है, वह भी इस नावपर आकर चढ़ सकता है। यदि कोई कहे कि हमने तो बड़े बुरे-बुरे काम किये हैं तो भगवान् कहते हैं कि आओ ज्ञानकी आग जला दो—

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।

ज्ञानकी आग प्रज्वलित होगी तो तुम्हारे सारे बुरे कर्म जल जाएँगे, नष्ट हो जाएंगे। ज्ञान होनेपर, पाप-कर्म कोई बाधा नहीं डाल सकते। इसलिए बाधा नहीं डाल सकते कि ज्ञानकी आगमें प्रतिषिद्ध कर्म हो ही नहीं सकते। यदि कहो कि हम अपवित्र हैं, पतित हैं तो भगवान् कहते हैं—

नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।

ज्ञानके समान कोई पवित्र नहीं, सबसे पवित्र यह ज्ञान है। जो भक्तगण गीतामें,—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।

इन श्लोकोंको जो पढ़ते हैं वे कहते हैं कि देखो, भक्तिकी कैसी महिमा है। पापी-से-पापी भी भक्ति करे तो तर जाय। इसी प्रकार गीतामें ज्ञानकी जो महिमा बतायी गयी है, उसे पढ़कर यह कहा जा सकता है कि पापी-से-पापीको पवित्र करनेके लिए ज्ञानसे बढ़कर कोई साधन नहीं। जैसे भक्ति तुम्हारे हृदयमें द्वेष नहीं रहने देगी, घृणा नहीं रहने देगी, शंका नहीं रहने देगी और प्रेमरूप होकर तुम्हारे हृदयमें प्रकट होगी, वैसे ही ज्ञान अज्ञानका नाश कर देगा। ज्ञानमें किसीसे द्रोह नहीं, किसीसे द्वेष नहीं, किसीसे बुराई नहीं,। सूर्योदय होनेपर अन्धकारका नाश हो जाता है और अन्धकारका नाश होनेपर सूर्य स्वयं तो प्रकाशित होता ही है, दूसरोंको भी प्रकाशित करता है। प्रकाशका यह स्वभाव है। दीपकको देखनेके लिए दीपककी आवश्यकता नहीं होती। अँधेरेमें कोई चीज देखनेके लिए रोशनीकी जरूरत है, परन्तु रोशनी देखनेके लिए रोशनीकी जरूरत नहीं होती। एक बार जहाँ अज्ञानरूपी अन्धकारका नाश हुआ वहाँ ज्ञानस्वरूपी सूर्य स्वतः प्रकाशित हो जाता है। इसको देखनेके लिए दूसरे प्रकाशकी आवश्यकता नहीं; अन्य सब वस्तुएँ क्या हैं, कैसी हैं, यह मालूम पड़ जाता है। तो ज्ञानमें तीन गुण हैं—

१. अन्धकारका नाश करना।
२ अपनेको प्रकाशित करना।
३. अन्योंको प्रकाशित करना।

स्वज्ञान और परज्ञान, दोनोंको दूसरे प्रकाशकी आवश्यकता नहीं होती।

तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत् परम्।

सूर्यके समान प्रकाशमान तत्त्वज्ञान परमात्माको सामने लाकर

उपस्थित कर देता है। एक बात आपके ध्यानमें होगी कि ज्ञान वस्तुको बनाता नहीं, दिखाता है। रोशनी वस्तुका निर्माण नहीं करती, जो चीज जैसी होती है वैसो दिखा देती है। सूर्योदय होता है तो पेड़ पैदा नहीं करता, घड़ा पैदा नहीं करता, स्त्री-पुरुष पैदा नहीं करता, अपितु अन्धकारका नाश कर देता है और जो पहले-से मौजूद है उसीको दिखाता है।

यथा हि भानोरुदयो नृचक्षुषां तमो निहन्यात् न तु सद्विधत्ते।
एवं समीक्षा निपुणा सती मे हन्यात् तमिस्रं पुरुषस्य बुद्धेः॥

आप इस बातपर ध्यान देंगे तो हमारे दर्शनशास्त्रका जो रहस्य है, वह आपको हृदयंगम हो जायेगा। परमात्माका ज्ञान स्वयं प्रकाश है। उसको रोशनीमें, जो चीजें बिना हुए डरा रही हैं जैसे—यह भूत है, प्रेत है, चोर है आदि—वे सब मिट जाती हैं। यह हमारा खो गया है, यह हमारे पास नहीं—इस प्रकारकी मनमें जो कुकल्पनाएँ होती हैं, उनका निवारण हो जाता है।

तो पुरुषकी बुद्धिको शुद्ध कर देना यह ज्ञानका काम है, वस्तुओंका निर्माण करना—यह कर्मका काम है और वस्तुओंमें मजा लेनेकी वृत्ति उत्पन्न कर देना—यह प्रेमका काम है। प्रेमसे वस्तुमें मजा आता है कर्मसे वस्तुका निर्माण होता है और तत्त्वज्ञानसे जो वस्तु जैसी है, वैसी यथार्थ रूपमें प्रकट हो जाती है। जब इस ज्ञानको प्राप्त करोगे तब परमात्मा रूप सत्य अपने-आप उद्भासित हो जायेगा। वह तो केवल अज्ञानसे अनमिला प्रतीत होता है। कोई चीज आपकी जेबमें पड़ी है और आपको उसका ख्याल नहीं, तो आप समझते हो कि वह खो गयी।' 'गोदमें छोरा शहरमें ढिंढोरा' वाली कहावत तो आप जानते ही हैं। ऐसा ही है यह ज्ञान जिसकी आप तलाश कर रहे हो।

अरे बाबा, परमात्मा तो आपके दिलमें बैठा है। गुरुनानक उसीके लिए तो कहते हैं कि **काहे रे बन खोजन जाई।** वह तो तुम्हारे दिलमें है। उसको दिलमें न देखकर जंगलमें दूसरी जगह ढूँढ़नेके लिए क्यों जाते हो ?

तो, तत्त्वज्ञानका तात्पर्य यह है कि अपने ही दिलमें, अपने ही स्वरूपमें जो परमात्मा बैठा हुआ है; उसका दर्शन हो जाये, साक्षात्कार हो जाये। ज्ञानसे जो चीज मिल जाती है, वह पहलेसे मिली हुई होती है। मान लो, हमारे सम्बन्धी कहीं खो गये हैं। हमें उनके लिए दुःख भी है। लेकिन हम उनको पहचानते नहीं, और वे यहाँ बैठे हैं। जब मालूम पड़ गया कि वे तो यहीं बैठे हैं तो उनके खोनेका दुःख दूर हो गया। तो भाई, परमात्माके लिए, सत्यके लिए, परमानन्दके लिए, प्रार्थनाके लिए जो अपने मनमें दुःख है वह न पहचाननेका दुःख है। पहचानते ही वह दुःख मिट जायेगा। जो चीज अज्ञानके कारण अनमिली होती है, वह वास्तवमें मिली हुई होती है और जो ज्ञानसे मिलती है, वह भी मिली हुई होती है। इसलिए ज्ञानसे परमात्माकी प्राप्ति स्वीकार करनेका मतलब यह है कि वह अनमिला नहीं, मिला हुआ है। तो, फिर उस ज्ञानकी प्राप्तिके लिए क्या प्रयास करना चाहिए, यह गीता बताती है—

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्पषाः ॥ ५.१७
विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥ ५.१८

पहली बात यह है कि अपनी बुद्धि उसमें प्रविष्ट करनी चाहिए। जैसे एक सिद्ध व्यापारीकी बुद्धि व्यापारकी सफलतामें प्रवेश करती है वैसे ही जो तत्त्वज्ञानके प्रेमी हैं, उनकी बुद्धि तत्त्वमें प्रवेश करनी चाहिए। जिस प्रकार अर्थसिद्धको बुद्धि अर्थमें,

धर्मसिद्धकी बुद्धि धर्ममें, कामसिद्धकी बुद्धि काममें तन्मय होती है, उसी प्रकार हमारी बुद्धि परमात्माके सम्बन्धमें विचार करें। 'तद्बुद्धयः' अर्थात् हमारी बुद्धि और प्यार, हमारा विचार और प्यार दोनोंको परमात्माकी ओर अग्रसर होना चाहिए।

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः। १२.८

भगवान् एक तो करते हैं प्रतिज्ञा और उसके बदलेमें दो चीज माँगते हैं। कहते हैं कि तुमने जो अपना मन अपने प्यारोंमें अटका दिया है, उसे वहाँसे उठाकर मुझमें रख दो। मन माँगनेका मतलब क्या है? मन कोई रुपया पैसा तो है नहीं, कोई चैक, कोई ड्राफ्ट तो है नहीं कि हम उसे उठाकर भगवान्‌में रख दें। हमने हाथमें पैसा या रुपया लिया, अक्षत लिया, जल लिया, पुष्प लिया और संकल्प किया कि यह मैं तुम्हें देता हूँ—**तुभ्यं समर्पये** अथवा **तुभ्यं सम्प्रददे** यह मनका संकल्प नहीं हो सकता। भगवान् श्रीकृष्णकी रुचि है कि मणि तो हमारे घरमें रहे, लेकिन उससे जो रोज़ पैसा निकलता है, वह उनको मिले। **मय्येव मन आधत्स्व**—अपने मनमणिको मुझमें समर्पित करके रख दो और उसमें प्रेमकी जितनी वृत्तियाँ निकलें वे सब हमारे साथ जोड़ो। प्रेम भी भगवान्‌से हो और बुद्धि भी भगवान्‌में सन्निविष्ट हो—**मयि बुद्धिं निवेशय**। बुद्धि भी कोई स्थूल पदार्थ नहीं कि भगवान्‌के चरणोंमें ले जाकर अंगूर या सेवकी तरह रख दी जाये। बुद्धिमें तो विचार होते हैं। भगवान्‌का तात्पर्य है कि हमारे विचार हों परमात्माके बारेमें और प्यार भी हो परमात्माके ही बारेमें। इसका परिणाम होगा—**मय्येव निवष्यसि**। जहाँ हमने अपना प्यार और विचार दोनोंको भगवान्‌में अर्पित किया वहाँ हमारा निवास भगवान्‌में हो जाएगा।

अत ऊर्ध्वं—अर्थात् मन और बुद्धिके समर्पणके अनन्तर तो

मनुष्यकी बुद्धि भगवान्‌में लगनी ही चाहिए। यदि कहो कि बुद्धि भगवान्‌में कैसे लगे तो इसका उपाय है **तदात्मानः**—पहले अपना मन भगवान्‌में लगा दो, फिर बुद्धि अपने आप लगेगी। जिससे प्यार होता है उसके बारेमें बहुत विचार होता है। भाई, पति, पत्नी, पुत्र, धन इत्यादिके विषयमें जो इतना ध्यान लगता है उसका कारण यही है कि उनसे हमारा प्यार है। हम जो सबेरे-सबेरे उठकर धारणा-ध्यान-समाधि लगाते हैं वह अपने इष्टके प्रति प्रेम होनेपर ही लगाते हैं। तो जिस प्रकार प्रेम होनेपर प्रेमास्पदका चिन्तन होता है उसी प्रकार भगवान्‌से प्रेम होनेपर भगवान्‌में हमारी बुद्धि लगने लगेगी। अच्छा तो प्रेम कब होगा? जब श्रद्धा होगी—**तन्निष्ठाः**। तुम माहात्म्य-ज्ञानपूर्वक जितना-जितना ईश्वरको जानोगे, उतनी-उतनी तुम्हारी श्रद्धा बढ़ेगी। यह निष्ठा कर लो कि हमारा मन भले ही कभी इधरसे उधर हो जाये, किन्तु हमारा प्यारा तो भगवान् ही है। मनकी तरह बुद्धि भी कभी-कभी इधर-उधर विचार करनेके लिए चली जाये तो उससे डरनेकी बात नहीं। बुद्धिकी यह निष्ठा होनी चाहिए कि हमें तो ईश्वरका ज्ञान प्राप्त करना है। जैसे समुद्रमें जहाजका पक्षी उड़कर दाहिने, बायें, सामने या ऊपर चला जाये लेकिन अन्ततोगत्वा आकर जहाजपर ही बैठता है वैसे ही मनुष्यका मन परमेश्वरके प्रति निष्ठावान् होना चाहिए। यदि कहो कि ऐसी निष्ठा कैसे हो, जो मन घूम-फिरकर वहीं-का-वहीं बैठे, तो इसका साधन बताया—**तत्परायणाः** तत्पर हो जाओ। तत्पर अथवा तत्परायणका अर्थ है—**तदेव परमं अयनं यस्य**। यह निश्चय कर लो कि हमारा असली घर वही है। जब नवविवाहिता वधूको बोध हो जाता है कि ससुराल ही उसका असली घर है तो बारम्बार मायकेकी ओर मन जाना धीरे-धीरे बन्द हो जाता है। अबोध बहू ही थोड़ी तकलीफ, थोड़ा मनके खिलाफ होनेपर

झट टेलीफोन उठाती और मायकेमें खबर भेजती है। अरी! तुम्हारा अपना घर तो ससुराल ही है। मायकेके लोग कबतक तुम्हें सँभालेंगे? सँभालना तो ससुरालके लोगोंको ही पड़ेगा। तो तत्परायणाका अर्थ है कि जीवात्मा यह समझ जाए कि ईश्वर ही हमारा वास्तविक निवास, हमारा परम अयन और चरम विश्राम-स्थान है।

तो ज्ञानमें चार बातें हुई। पहली तत्परता कि हमारा एकमात्र परमेश्वर है। दूसरी निष्ठा कि मन-बुद्धिके चंचल होनेपर भी उसीमें बैठना। तीसरी मनका प्यार और चौथी बुद्धिका विचार परमात्मामें लगाना। ऐसा होनेपर—**गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः**—ज्ञान आपके सारे पापको धो डालेगा। ध्यान रहे कर्मसे पाप नहीं धुलते और इच्छासे भी पाप नहीं धुलते। यदि आप इस असलियतको समझ जाओ कि पाप क्या है तो जैसे समझ लेनेपर, जान लेनेपर भूत भाग जाता है, वैसे ही ज्ञानसे पाप भाग जाते हैं। **ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः**—केवल ज्ञानमें ही कल्मषके निर्धूननकी शक्ति है। आप ज्ञान प्राप्त होनेपर पुनरावृत्तिसे छूट जाएँगे, आपका जन्मना-मरना छूट जाएगा, आपको मोक्ष-ही-मोक्ष प्राप्त होगा।

यदि आपको शंका हो कि ज्ञानी लोग कहीं मर तो नहीं जाते, तो डरो मत। ज्ञानी लोग मरते नहीं, जिन्दा रहते हैं। वही व्यक्ति सबसे बड़ा अभागा और संसारासक्त है, जिसको ऐसा मालूम पड़ता है कि संसारमें कोई ज्ञानी, कोई निर्दोष अथवा कोई महात्मा नहीं। जिसको नजरमें कोई ज्ञानी है ही नहीं, कोई महात्मा है ही नहीं, कोई निर्दोष है ही नहीं वह अपने निर्दोष होनेकी कल्पना ही नहीं कर सकता। फिर वह कैसे निर्दोष हो सकेगा? अस्तु; ज्ञानी पुरुष इसी दुनियामें रहते हैं। कैसे रहते हैं तो समदर्शी होकर रहते हैं—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥ ५.१८ •

प्रवचन--९

प्रायः लोगोंकी धारणा है कि धर्ममें श्रद्धा ही प्रधान होती है, वहाँ केवल विश्वास ही करना पड़ता है। यह बात दूसरे मजहबोंकी दृष्टिसे ठीक भी है। वैदिक धर्ममें भी जहाँतक परलोकका प्रश्न है—यह करेंगे तो स्वर्ग मिलेगा और वह करेंगे तो नरक मिलेगा—उसके साथ भी श्रद्धाका सम्बन्ध है। परन्तु वैदिक धर्ममें जो परमार्थका दर्शन है, साक्षात्कार है, वह केवल श्रद्धा-विश्वासपर अवलम्बित नहीं। **घटवत् किं न भासते**—विद्यारण्य स्वामीने कहा कि परमार्थ क्या वैसे ही नहीं दीखता जैसे घड़ा दीखता है। जैसे स्फीतालोक मध्यवर्ती प्रत्यक्ष घट दीखता है, वैसे ही परमात्माका दर्शन भी स्पष्टम्-स्पष्टम् होता है। उसमें श्रद्धा-विश्वासकी बात नहीं रहती। भले ही प्रारम्भमें श्रद्धा-विश्वास करना पड़ता हो, परन्तु उसका अन्त साक्षात्कारमें ही है। प्रमाणद्वारा परमेश्वरका ज्ञान, वैदिक धर्मकी विशेषता है। हम लोग केवल पुराणवादी नहीं, हमारे साथ दर्शन है। आप इस बातपर ध्यान देना कि दुनियाके किसी मजहबके साथ दर्शन नहीं, दर्शन तो केवल हमारे साथ है। इसका कहना है हमको परमात्मा केवल इसलिए अप्राप्त है कि हम उसे न जानते हैं न पहचानते हैं। श्रुति कहती है कि **अनृते न हि प्रत्यूढाः**—लोग मिथ्याके द्वारा बहकाये जा रहे हैं। झूठी मान्यताओंके कारण इधरसे उधर भटक रहे हैं। ऋग्वेदका मन्त्र है—**न तं विदाथ य इमा जजान**—तुम उसको नहीं जानते, जिसने यह सृष्टि पैदा की।

अन्यद् युष्माकं अन्तरं बभूव—तुम्हारे और उसके बीचमें एक दूसरी वस्तु आकर खड़ी हो गयी है। **नीहारेण प्रावृता जल्प्या आसुतृपः उक्थशासा चरन्ति** दुनियाके लोगोंकी आँखोंमें कुहासा छा गया है। वे केवल प्राणपोषण-परायण हो गये हैं। बकवादी हो गये हैं, बोलते अधिक हैं, वस्तुको पहचाननेका प्रयास नहीं करते। इस अन्धकारमें विचरण कर रहे हैं। **अज्ञानेनावृतं ज्ञान**—ज्ञानस्वरूप आत्मा अज्ञानसे ढका हुआ है। यदि आप ज्ञान प्राप्त कर लें तो उसका आवरण अपने-आप भंग हो जायेगा—

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥

आप इस बातको वैदिक धर्मकी विशेष सम्पत्ति समझें कि यहाँ ज्ञानसे अज्ञानका नाश होकर परमार्थका परमात्माका दर्शन या साक्षात्कार होता है। जब परमात्माको निर्गुण, निर्विशेष कहते हैं तब इसका अर्थ होता है जैसा यह वैसा वह—जैसा वह वैसा यह—जैसा मैं वैसा वह, जैसा वह वैसा मैं। निर्विशेष अर्थात् विशेष नामकी वस्तुसे, भेदनामकी वस्तुसे रहित। इसलिए केवल अज्ञान ही परमात्माकी प्राप्तिमें बाधक हो रहा है। जब मनुष्य ज्ञान प्राप्त कर लेता है तब अज्ञानका नाश हो जाता है। जैसे सूर्यका प्रकाश होनेपर वह स्वयं प्रकाशित होता है और अन्धकारका नाश तथा पहले-से विद्यमान वस्तुओंका दर्शन होता है; वैसे ही परमतत्त्वका प्रकाश होता है। परमके साथ जो तत् शब्द है, वह अज्ञानका भी वाचक है—**तस्मात् परम् तत्परम् अज्ञानात् परम्।**

वेदाहमेतम् पुरुषं महान्तम् आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्।

परमात्मा वह है जो तमस्से, अन्धकारसे-अज्ञानसे परे है। 'परे' शब्दका अर्थ भी संसारमें दूसरी तरहसे और परमार्थमें

दूसरी तरहसे होता है। एक मैं हूँ और एक पराया है। एकका नाम हुआ संसार और एकका नाम हुआ मैं। लाखों मैंमें एक मैं 'पर' रहकर मैंको प्रकाशित करता है। परमार्थमें पर माने होता है अन्तरङ्ग, प्रत्यक् और व्यवहारमें 'पर' माने होता है पराया दूसरा। गीता तथा कठोपनिषद्में पर शब्दके अर्थ दिये गये हैं। गीता कहती है—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥ ३.४२

कठोपनिषद्में इस प्रकार कहा गया है—

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः॥

(क० १० तृ. व.)

पिपर्ति इति परः। जो सबका पालन-पोषण करता है, उस आत्मदेवका ही नाम पर है। वह सबका पालन-पोषण कैसे करता है, इसपर आप ध्यान देंगे तो मालूम पड़ेगा। दुनियामें जितनी चीजें मालूम पड़ती हैं, जो भी सुख-दुःख, अपना-पराया मालूम पड़ता है वह सब अपने-आपके होनेसे ही मालूम पड़ता है। यह ईश्वर है, राम है, कृष्ण है, शिव है अथवा यह अच्छा है, बुरा है, समाधि है, सुषुप्ति है, जाग्रत् है आदि जितनी भी वृत्तियाँ हैं इन सबको परिपूर्ण करनेवाला, सबका पालन करनेवाला आत्मदेव ही है। यह यदि भीतर बैठकर न देख रहा हो तो कुछ भी नहीं मालूम पड़े। इसलिए सबसे परे तत्त्व कौन-सा है, तो—**पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः**—यह जो पुरुष है, यही सबसे परे है, प्रत्यगात्मा है। इसका दर्शन कैसे होता है, इसके दर्शनके लिए क्या उपाय करना चाहिए तो बताया—**ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः।**

हमारे मनमें कुछ कल्मष आगये हैं। कल्मष वह है जो हमारे सत्कर्मके फलको नष्ट कर देता है, दबा देता है, प्रतिबद्ध कर देता है। **कर्माणि स्यति इति कल्मषः** हमने अन्तंमुख होनेके लिए, सुखी होनेके लिए अच्छे-अच्छे काम किये हैं लेकिन पाप ऐसा आता है जो सत्कर्मोंके फलका अनुभव ही नहीं होने देता। इसलिए ज्ञान प्राप्त कीजिये। ज्ञानसे कल्मषका नाश होता है। ज्ञान प्राप्त करनेके लिए जो सत्य है उसमें बुद्धि लगाओ। तद्‌बुद्धयः उसपर विचार करो। जैसे व्यापारको समझनेके लिए, व्यवहारको समझनेके लिए, परिवारको समझनेके लिए हम अपनी बुद्धिको लगाते हैं, वैसे ही परमेश्वरको समझनेके लिए बुद्धि लगाना आवश्यक है। यदि कहो कि व्यापारमें बुद्धि लगानेसे धन मिलता है, व्यवहारमें बुद्धि लगानेसे यश मिलता है, किन्तु परमेश्वरमें बुद्धि लगानेसे क्या मिलता है तो इसका उत्तर है कि परमेश्वरको पहचान जानेपर बिना मोलका सुख मिलेगा, बिना परिश्रमके शान्ति मिलेगी, हर समय एक परमेश्वरका दर्शन होगा और यह जो तुम्हारी मनोवृत्ति क्षणे रुष्टा क्षणे तुष्टा होती रहती है वह शान्त हो जायेगी। क्षणभरमें खुश हो गये, क्षणभरमें नाराज हो गये। दिनभरमें कितनी बार दुःखी और सुखी होते रहते हो, कितनी बार रोते और हँसते हो—इसकी कोई दैनन्दिनी है, कोई डायरी है? किन्तु यदि परमात्माका दर्शन हो जाये तो इस द्वन्द्वसे मुक्ति मिल जाएगी। इसलिए अपनी बुद्धि परमात्मामें लगाओ। मनुष्यके मनका प्यार यदि परमात्माके साथ जुड़ जाये तो संसारके सारे आकर्षण समाप्त हो जायें। जगह-जगह हमारा प्यारा बदलता रहता है। हमें यह प्रिय है, वह प्रिय है। कोई यह सूची नहीं बना सकता कि उसके कितने प्यारे हैं, कौन-से स्पर्श प्यारे हैं? कौन से सगीत प्यारे हैं, कौन-से स्वर प्यारे हैं, कौन-से रूप प्यारे हैं—इनकी गिनती ही संभव नहीं। इसलिए

केवल एकसे प्यार करो और उसमें अपने मनको मिला दो। जहाँ-तहाँ भटकते रहनेसे तो कभी भी शान्ति नहीं होगी। धर्मका काम यही है कि वह दस जगह भटकने न दे। ब्याह हुआ तो पति-पत्नी एक हो गये, उनके मन मिल गये। मनको मर्यादित करना ही धर्मका काम है। यदि आप मनको मर्यादित नहीं करेंगे तो—**वाताहत नौरिवार्णवे** जैसे हवासे डगमगाती हुई नाव कहीं भी टिक नहीं सकती वैसे ही आपके मनको कहीं ठौर-ठिकाना नहीं मिलेगा। तो परमात्माको समझें और उसमें अपना मन लगा दें। यदि कभी मन न लगे, चंचल हो जाये, तो उस समय भी उसीपर आस्था करें और निश्चय रखें कि उसी परमात्मासे मिलना है। ऐसा करनेपर अवश्यमेव अपुनरावृत्तिकी प्राप्ति होती है। बारम्बार जाना और बारम्बार आना—जायस्व और म्रियस्व—पैदा हो और मरो—बनो और बिगड़ो—यह जो दुनियामें लगा हुआ है, यह जो अशान्ति है, इसका अन्त होना चाहिए। हम रागसे रँग जाते हैं, द्वेषसे जलने लगते हैं। इससे छुट्टी तभी मिलेगी जब परमात्माके स्वरूपका ज्ञान हो जायेगा। अपुनरावृत्तिका अर्थ है मोक्ष। लौट-लौटकर आनेका नाम पुनरावृत्ति है। हमारा मन लौट-लौटकर पीछे जाता है, पुनरावृत्ति करता है। जो कुछ दृश्यमान है—दीख रहा है, जो कुछ श्रूयमाण है—सुना जाना है, उसमें हमारा मन बारम्बार जाता है। और जो कुछ स्मर्यमाण है, याद आता है, उसमें अच्छे-बुरेकी, अच्छाई-बुराईकी कल्पना करके हमारा मन सटता और हटता रहता है। इसलिए मनुष्यको अपना अदलने-बदलनेवाला मन संतुलित करना चाहिए। यह हमारे वैदिक धर्मकी, वेदान्तकी युक्ति है। इसकी साधना वैकुण्ठमें जाकर नहीं होती। वेदान्तका कहना है कि इस समय जो तुम हो, वही मुक्त हो। तुम न धनसे बँधे हो, न भोगसे बँधे हो और न कर्मसे

बँधे हो। बिल्कुल छुट्टे-छँड़िगे हो। तुम्हारी मौज हो तो किसीके साथ मिल लो। धन कमाया है तो उसका मजा लेलो। लेकिन याद रखिये कि यह चेतन आत्मा कहीं भी किसी जड़ वस्तुके साथ बँधी हुई नहीं। हम लोग बारम्बार बन्धनका अनुभव करते हैं और लौट-लौटकर यहीं आते हैं। इससे मुक्त होना अनिवार्य है। मुक्तिका अर्थ यह है कि आप जैसे धनके संग्रहसे सुखी होते हैं वैसे ही धनके त्यागसे भी सुखी हों, जैसे भोग करके सुखी होते हैं वैसे ही ब्रह्मचर्यसे, भोग-त्यागसे भी सुखी हों, जैसे भोजन करके सुखी होते हैं वैसे ही उपवास करके भी सुखी हों, जैसे काम करके सुखी होते हैं वैसे ही काम छोड़कर शान्तिसे रहकर भी सुखी हों। आपके जीवनमें जो पराधीनता है, वह निवृत्त हो जाये। मुक्ति माने छुटकारा—पराधीनतासे, बन्धनसे। **मानि-मानि बन्धनमें आयो**—मनुष्य अपनी मान्यताके अनुसार ही बँधा हुआ है। जो लोग लगे-लगे पीछे-पीछे डोलते हैं, उनको वह बन्धन कहाँ है? क्या तनमें कहीं रस्सी बँधी है? जीभ पकड़ी हुई है? नहीं, उनका मन ही बँधा है, पकड़ा हुआ है। मनको भी किसी दूसरेने नहीं, उनके मनने स्वयं जाकर अपनेको पकड़वाया है। मुझसे एक बड़े बूढ़ेने स्वयं बताया कि यदि उस लड़कीसे हमारा ब्याह नहीं होगा तो मैं कूँएमें कूदकर मर जाऊँगा। उनके इतने ब्याह पहले हो चुके थे कि उनकी गिनती बताने लायक नहीं। प्रश्न यह है कि क्या वह लड़की उनको दुःख दे रही थी? नहीं, वह लड़की दुःख नहीं दे रही थी। लड़कीने तो कह दिया था कि मैं तुम्हारे ऊपर थूकूँगी भी नहीं, ब्याह करनेकी तो बात ही क्या है? तो लड़की किसीको दुःख नहीं देती, धन किसीको दुःख नहीं देता, परिवार किसीको दुःख नहीं देता, अपितु अपना मन ही जो संसारमें फँसा हुआ है, दुःख देता है। किसीने आपको गाली दी तो क्या आपके

कलेजेमें घुस जाती है? कहाँ जाकर लगती है? आप तो नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त परमात्माके स्वरूप हो, अपने स्वरूपको पहचानो। अपुनरावृत्ति माने यही होता है। मुक्तलोग तो कहते हैं कि इस दुनियामें दुहराने लायक कुछ है ही नहीं। हर सेंकेड, हर मिनट छूटता जाता है। लौटकर देखने लायक कुछ नहीं होता कि पीछे क्या छूट गया। जो पीछे छूट गया, वह लौटकर आयेगा नहीं और जो आगे आनेवाला है, उसको हम रोक सकते नहीं। जैसे घड़ी चलती है, पेण्डुलम चलता है, वैसे ही हमारा दिल चलता है। जो क्षण बीत गये सो बीत गये और जो आनेवाले हैं वे निश्चित हैं। उनके सिंहावलोकन-की कोई आवश्यकता नहीं। वह तो बड़े-बड़े कवियोंपर छोड़ दो। पीछे लौटकर याद करके मत रोओ अपने मनको आज-कलकी भाषामें सन्तुलित रखो। पहले सन्तुलितके स्थानपर सम बोलते थे। तराजूका पलड़ा जब टेढ़ा होता है तब न्याय नहीं करता। आजकल कैसे तौलते हैं यह तो हमें मालूम नहीं, हमने बचपनमें देखा था कि तराजूकी डडीके ऊपर एक रस्सी होती थी, उसको हाथसे पकड़कर तौला करते थे। हमने ऐसे तौलनेवाले भी देखे थे जो अपनी मुट्ठीको जरा-सी टेढ़ी कर देते थे और तराजू टेढ़ा हो जाता था। उसको डंडी मारना बोलते थे। तो हमारा यह मन भी दुनियाको तौलनेमें बड़ा भारी पक्षपात करता है, अन्याय करता है। वह लेना हो तो दूसरे ढंगसे और देना हो तो दूसरे ढंगसे तौलता है। मैंने तो ऐसे भी बनियाँ देखे हैं जो झोलेमें तुलसीकी हजारा माला रखकर सीताराम-सीताराम जपते रहते और अपने बच्चोंसे बोलते कि बेटा! बनियेका सब फायदा तौलमें ही है। तो लेनेमें और तथा देनेमें और। माल दिलानेके लिए और तथा बेचनेके लिए और। पसन्द कराते दूसरी चीज और बेचते दूसरी चीज। यह सब शायद आज भी होता रहता है।

तो यह जो दो कसौटियाँ हमने अपने जीवनमें बना रखी हैं इससे हमारी समता भङ्ग हो गयी है। जिसके जीवनमें समता नहीं, मनमें सन्तुलन नहीं उसका जीवन, उसका मन सुखी नहीं रह सकता। इसलिए जीवनमें, मनमें समता या सन्तुलन आवश्यक है। तभी मुक्ति मिल सकती है। मुक्ति माने दुःखसे, पराधीनतासे, अन्यायसे, वासनासे, संस्कारसे, अभिमानसे, अज्ञानसे मुक्ति। मुक्ति जीवनका एक ठोस सत्य है और दुनियामें ऐसा कोई नहीं जो बन्धनसे मुक्ति न चाहता हो। आपलोग जो मुक्तिका नाम सुनकर डरते हैं वह वैसे ही है जैसे कोई आपको परमानन्द दे रहा हो और आप उसमें यह शंका कर लें कि अरे राम, पता नहीं इसमें क्या होगा ? मुक्ति तो यहीं है, हमारे जीवनमें है, आँखोंके सामने है। हम मरनेके बाद भगवान्‌के धाममें जायेंगे तब हमें उनके नगरकी नागरिकता मिलेगी, उनके जैसी पोशाक पहननेको मिलेगी, उनके दरबारमें बैठनेको मिलेगा, हम उनके खास मुसाहिबोंमें हो जायेंगे, हम उनके अन्दर समा जायेंगे, उनकी कचौरी बन जायेंगे, उनके समोसे बन जायेंगे— यह मुक्तिका शास्त्रीय रूप नहीं। इसको तो भक्तलोग भी स्वीकार नहीं करते—'**दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः**। तो जीवनमें समता आनी चाहिए। यह गीताका खास सिद्धान्त है। गीता समतासे बहुत प्रेम करती है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥ ५.१८
इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः॥ ५.१९

ब्राह्मी स्थिति क्या है, इसपर विचार तो करो। क्या मरनेके बाद ब्राह्मी स्थिति होती है ? आप लोग जो यह सुनते हो कि

मरनेके बाद पुण्यकर्मोंके फलस्वरूप, दिव्य स्वर्गराज्य मिलता है हम उसकी चर्चा नहीं करते। हमारी दृष्टिमें तो पारमार्थिक स्थिति और जीवनके बीचमें मौतको ले आना एक अमंगल-कल्पना है। यह सोचना कि बिना मरे हमारा परम कल्याण नहीं होगा, हमारे और परम कल्याणके मध्य मौत मौजूद है, बड़ा भारी अपशकुन है। ऐसी बातको मनमें या मुँहपर लानेकी जरूरत ही नहीं। आवश्यकता तो यह देखनेकी है कि आपके इसी जीवनमें समता है कि नहीं? गीतामें कर्मयोगका वर्णन प्रारम्भ करते ही भगवान् श्रीकृष्णने कहा—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥ २.३८

आप यदि जीवनयुद्धमें प्रवृत्त हो रहे हैं तो आपको कभी सुख मिलेगा तो कभी दुःख। कभी आगे बढ़ोगे तो कभी पीछे हटना पड़ेगा। कभी अनुकूल होगा तो कभी प्रतिकूल। कभी तुम्हारे पक्षकी जीत होगी तो कभी सामनेवाले पक्षकी जीत होगी। कभी लाभ होगा तो कभी हानि होगी। कभी जय होगी तो कभी पराजय होगी। इस प्रकारकी परस्पर विरोधी परिस्थितियाँ आपके जीवन-संग्रामकी—आपके कर्मयोगकी अनिवार्य हैं। अब आपको यह देखना है कि आपके अन्दर उनको सहनेकी कितनी शक्ति है। यदि आप यह सोचें कि जो आपको अच्छा नहीं लगता, वह दुनियामें न रहे, आपकी आँखोंके सामने न आवे, अथवा आपके मनमें उसकी याद न हो तो यह आपकी असम्भव कल्पना है। अरे भाई जिसकी स्मृति होती है होने दो, जो आँखोंके सामने आता है, आने दो और उसे रहने दो, किन्तु तुम जैसे हरीसन रोडकी भीड़में-से निकल जाते हो, वैसे ही निकल जाओ। इस दुनियामें राग-द्वेष करने लायक तो कुछ है ही नहीं।

अब ब्राह्मणकी बात लेते हैं। उसमें तीन बात होनी चाहिए—**यस्य त्रीण्यवदातानि योनिर्विद्या च कर्म च।** वंश, विद्या और कर्म। जो रज-वीर्यसे शुद्ध हो अर्थात् जिसमें आधिभौतिक शुद्धि हो, विद्यासे सम्पन्न हो अर्थात् जिसमें आध्यात्मिक शुद्धि हो और दैवी उपासना करके अपने अन्दर अलौकिक गुणोंको जाग्रत् कर चुका हो अर्थात् जिसमें आधिदैविक शुद्धि हो, उसका नाम ब्राह्मण होता है। जिस ब्राह्मणमें आधिभौतिक, आध्यात्मिक, आधिदैविक शुद्धियाँ न हों, जो विद्या, विनय-सम्पन्न न हो, उस ब्राह्मणकी मनुजीने बड़ी निन्दा की है—

यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः।
यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति॥

जैसे लकड़ीका हाथी होता है, चामका हिरन होता है, वैसे ही वह ब्राह्मण होता है, जो विद्या-विनयसे रहित है। वह तो केवल नामधारी ब्राह्मण है। उसको ब्राह्मण कहना भी उपयुक्त नहीं। यदि कोई ऐसे ब्राह्मण और श्वपाकको समान समझे तो इस सम्बन्धमें भगवान्‌ने जो बताया है उसका कोई अर्थ नहीं रहेगा। उनका आशय तो यह है कि सात्त्विक–सद्‌गुणोंसे युक्त ब्राह्मण है, राजस गुणोंसे युक्त गाय है, तमोगुणसे युक्त हाथी तथा कुत्ता और कुत्ता खानेवाला है। ये सब अलग-अलग गुण स्वभाव और कर्मके हैं। इनको अलग-अलग देखते-देखते तुम्हारे दिलमें बोझ आ जायेगा। अतः जो सबमें एक है, उसको देखो।

पण्डिताः समदर्शिनः—गीतामें पण्डित और सम ये दोनों शब्द बारम्बार आते हैं। संस्कृत भाषामें पण्डित वह है जिसकी सदसद्विवेकिनी बुद्धि जाग्रत हो गयी हो—**सदसद्विवेचिनी बुद्धिः पण्डा सा संजाता अस्य इति पण्डितः।** जिसके अन्तःकरणमें सच और झूठ, अच्छा और बुरा—इसका विवेक करनेवाली

बुद्धि जाग गयी है, उसका नाम होता है पण्डित। परन्तु श्रीकृष्णने पण्डितकी जो पहचान बतायी, वह आपने प्रारम्भमें ही पढ़ ली है–

गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः—जो शोकसे मुक्त है, उसका नाम है पण्डित। अरे भाई, जो मर गये हैं, उनके लिए शोक करना तो अपना दिल व्यर्थ खोना है। अच्छा तो जो जिन्दा है, उनके लिए शोक करें? नहीं, जो जिन्दा ही हैं उनके लिए शोक क्या? **गतासून**—जो मर गये और **अगतासूंश्च** जो जिन्दा हैं, उनके लिए विद्वान् पुरुष–पण्डित पुरुष शोक नहीं करता। तो वास्तवमें पण्डित वह है, जिसको शोक नहीं छूता—

शोकस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम्॥

यह भारत-सावित्री है, महाभारतकी गायत्री है। जैसे वेदमें गायत्री है, वैसे ही यह महाभारतमें गायत्री है। महाभारतमें गायत्रीके चार श्लोक हैं, उनमें-से एक है यह। इसका अर्थ है कि जो मूढ़ पुरुष हैं वे ही दिनभरमें हजार बार शोकग्रस्त होते हैं और हजार बार डरते हैं। शोक और भयसे ग्रस्त होना मूढ़ताकी पहचान है। ऐसा इसीलिए होता है कि वह कहीं-न-कहीं मोहमें फँस जाता है। वह गये हुएको छोड़ना पसन्द नहीं करता। इसी प्रकार हमारा कोई अनिष्ट न कर दे—इस डरसे ग्रस्त रहता है। मनका भविष्यमें जाना भयकी सृष्टि करता है और भूतमें जाना शोककी सृष्टि करता है। बीती हुई अच्छी-बुरी बातोंको याद करनेसे शोक आर आनेवाली अच्छी-बुरी बातोंका ख्याल करनेसे भय आता है। आनेवाली अच्छी बातका ख्याल होनेपर यह आशंका होती है कि कहीं कोई अड़चन न पड़ जाए और बुरी बात आनेवाली दिखे तब तो भय होता ही है। किन्तु इस प्रकारके शोक और भय मूढ़को ही होते हैं। पण्डितकी पहचान

यह है कि वह निर्भय, निर्द्वन्द्व होकर शेरकी तरह अपने रास्तेपर चलता है। उसको न पीछेका शोक होता है, न आगेका भय होता है और न वर्तमानसे मोह होता है! पण्डितकी एक पहचान यह भी बतायी कि—**पण्डिताः समदर्शिनः** पण्डित समदर्शी होता है। वह दिन और रात दोनोंको अलग-अलग देखता तो है लेकिन दोनोंको काल समझता है, दोनोंमें कालको देखता है। रात होनेसे कुछ नुकसान हो गया और दिन होनेसे कुछ फायदा हो गया अथवा दिन होनेसे कुछ नुकसान हो गया और रात होनेसे कुछ फायदा हो गया—यह पण्डितकी दृष्टिमें नहीं। उसके लिए तो दिन और रात बराबर हैं, पूर्व और पश्चिम बराबर हैं। देखो ब्रह्म सबमें एक है और बराबर है। ईश्वर सबमें एक है और बराबर है। प्रतीति सबमें एक है और बराबर है। माया सबमें एक है और बराबर है। पञ्चभूत सबमें एक हैं और बराबर हैं। तो पण्डितकी पहचान ही यह है कि उसके दर्शनमें समता होती है। गीतामें पण्डितकी एक और यह पहचान, खासकर पहचान नाम देकर बतायी गयी है जो आपके ध्यानमें होगी—

ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः।

विद्वान् लोग पण्डित उसको कहते हैं जिसके ज्ञानकी आगमें कर्म जलते जाते हैं। जो कर्मोंका संस्कार ग्रहण करके स्वयंको पुण्य या पापके बोझसे लाद नहीं देता उसका नाम होता है पण्डित। पण्डित वह है जो दुनियामें बड़े-छोटेका भेद होनेपर सबमें समभाव रखता है। आपकी आँखें देखनेका काम करती हैं और नाक सूँघनेका करती है। दोनोंके काम अलग-अलग हैं, पर दोनों आपके ही शरीरके अंग हैं। क्या आप आँखकी रक्षा करते समय नाक कट जाने देंगे? दोनोंमें जो शरीर-बुद्धि है यही एकत्व है, समत्व है। इसी तरह संसारकी सभी वस्तुओंमें

एक परमात्माका जो दर्शन है, वही सच्चा दर्शन है, समदर्शन है। वह छोड़ने योग्य नहीं। यदि कहो कि व्यवहारकी रीति तो यह है कि जो बड़ा हो उसे छोटा समझकर उसका तिरस्कार नहीं करना चाहिए और जो छोटा हो उसे बड़ा समझकर सिरपर नहीं बैठाना चाहिए।

हमारे धर्मसूत्र कहते हैं कि अपूज्यकी पूजा नहीं करनी चाहिए और पूज्यका अनादर नहीं करना चाहिए। फिर सम-दर्शनका तात्पर्य क्या है? उसका तात्पर्य ब्रह्मदृष्टि है, व्यवहार-दृष्टि नहीं। व्यवहारमें तो अपना पुत्र प्रणाम करे तो उसको आशीर्वाद देना चाहिए और अपना पिता सामने आजाय तो उसके चरणोंमें सिर झुकाकर प्रणाम करना चाहिए। यह व्यवहार-धर्म है। किन्तु प्रणाम करनेवाले पुत्रमें भी परमात्मा है और जिस पिताको प्रणाम किया गया उसमें भी परमात्मा है। परमात्मा तो दोनोंमें ही है। वल्लभाचार्यजी महाराजके सात बेटे हुए। वे सातोंको परमेश्वरका स्वरूप समझते थे और मानते थे कि मेरे घरमें पुत्ररूपमें साक्षात् परमेश्वर आये हुए हैं। यह भी एक दृष्टिकोण है। बेटा छोटा है या बड़ा—यह ख्याल नहीं। ख्याल यही है कि इसके भीतर वही परमेश्वर है। पितामें भी परमेश्वर है मातामें भी परमेश्वर है यदि आप यह मानलें कि पत्नीके रूपमें लक्ष्मी ही आयी हैं तो लक्ष्मीनारायण कोई दो होते हैं? कन्यादानके समय हमारे भारतीय लोग, हिन्दूधर्मके अनुयायी लोग संकल्प करते हैं कि—

लक्ष्मीरूपिणीं इमां कन्यां श्रीधररूपाय तुभ्यं वराय सम्प्रददे

हमारी कन्या लक्ष्मी है और तुम श्रीधर हो। इस प्रकार आप सब श्रीधर हुए और ये सब लक्ष्मी हुईं। यह कितनी उदार दृष्टि

है कि सबमें एक ब्रह्म है, ईश्वर है, माया है, प्रतीति है, प्रकृति है, पञ्चभूत है। सबमें एक ही बैठा हुआ है।

तो इस सृष्टिपर विजय किसने प्राप्त की, इसका उत्तर गीता देती है—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः॥ ५.१०

यदि आप लाभ-हानिमें समता, सुख-दुःखमें समता और जय-पराजयमें समता रखकर अपना दिल ठीक रखते हैं तो दुनियाका कोई भी परिवर्तन आपको प्रवाहित नहीं कर सकता। हमने तो ऐसा देखा है कि जो लोग जुआ खेलते हैं वे भी हार और जीतमें समान रह जाते हैं। कहते हैं कि आज गया तो कल आवेगा और कल गया तो आज आवेगा। वे खुश होकर लाखों खोते हैं, लाखों कमाते हैं और हानि-लाभमें एक-सरीखे रहते हैं। जब एक जुआरी अपने मनको इतना पकड़कर रख सकता है तो आप जैसे पुण्यात्मा, भगवद्भक्त परमार्थके सत्सङ्गी और परब्रह्म परमात्माको जाननेवाले सज्जनोंके हृदयमें सन्तुलन आनेमें क्या बाधा पड़ती है? गीता कहती है कि पापी-पुण्यात्मा दोनोंके प्रति आपके चित्तमें समता ही रहनी चाहिए—राग-द्वेष नहीं। आप गीता पढ़ते हैं तो यह श्लोक ध्यानमें रखिए—

साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते

यदि एक पुण्यात्मा है और दूसरा पापी—तो रहने दीजिये। पापी नरकमें जाता है तो जाने दीजिये। आप अपना दिल क्यों बिगाड़ें? यदि हम पापीको देखकर सोचने लगें कि यह कुम्भीपाक नरकमें जायेगा तो हमारा दिल भी कुम्भीपाक नरक हो जाता है। हमारी वृत्ति कुम्भीपाकाकार हो जाती है। इसी प्रकार यदि हम सोचने लगें कि अमुक पुण्यात्मा स्वर्गमें जायेगा तो हम भी

मनसा स्वर्गमें पहुँच जाते हैं। इस प्रकारके चिन्तनसे हमारा वर्तमान जीवन विस्मृत हो जाता है और हम तदाकार हो जाते हैं। इसलिए पापीको देखकर नरकमें और पुण्यात्माको देखकर स्वर्गमें मत जाओ, अपितु अपने दिलको जहाँ-का-तहाँ रखो।

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः॥

कर्ममें भी समता होती है। आपलोग गीता पढ़ते हैं तो अपने जीवनकी गतिको समतासे सम्पन्न बनावें। आपकी मोटर चलती है और बार-बार हिचकोले लगते हैं तो आपको उसकी गति अच्छी नहीं लगती! पहले हम राजस्थानकी ट्रेनोंमें यात्रा करते थे तो हमारा कमण्डलु गिर जाता था, टूट जाता था, बिस्तर गिर जाता था, हम स्वयं बैठे नहीं रह पाते थे, कभी ऊपर तो कभी नीचे हो जाते थे। वह यात्रा अच्छी नहीं लगती थी। अब भी कोई ड्राइवर मोटर चलाता है और बार-बार ब्रेक लगाता है तो धक्का लगता है। इसी प्रकार हमारे जीवनकी गाड़ी चल रही है, बारम्बार ब्रेक लग जाता है, बारम्बार मोड़ना पड़ता है, इसमें समता आनी चाहिए। जीवनमें समत्व आना अत्यत आवश्यक है। सर्दी आती है, गर्मी आती है। आपलोगोंने देखा होगा, कोई-कोई साधु ठण्डके दिनोंमें, रातके समय भी नंगे रहते हैं। इसीप्रकार गर्मीके दिनोंमें वे धूप सहते हैं, गर्मी सहते हैं। जो रातकी ठण्ड सह लेगा, वह दिनकी गर्मी भी सह लेगा। वह सहन-शक्ति समत्वसे ही आती है—**शीतोष्णसुख-दुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः**। गीतामें इसका उल्लेख कई बार हुआ है—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥

सड़कपर न जाने कितने अच्छे-बुरे चलते रहते हैं, उनको चलने दो। तुम अपना दिल न बिगाड़ो। यह दुनियामें सबसे कीमती वस्तु है। इसीका नाम अध्यात्म है। इसीको ठीक रखने-का नाम समत्व है।

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्योमित्रारिपक्षयोः

मान और अपमान मित्र और शत्रु दोनों बराबर हैं। आपका मित्र आता है तो आपके चेहरेपर मुस्कान आती है, ठीक है। किन्तु आप यह भी ध्यान रखें कि जब आपका शत्रु सामने आये तब भी मुस्कान आजाये। यदि शत्रुको देखकर आपके चेहरेपर मुस्कान आजाय तो समझिए कि समता आ रही है। मुस्कान हँसी उड़ानेके लिए नहीं, खुशीको, सुखकी होनी चाहिए। आप समागत शत्रुसे प्रेमपूर्वक मीठी-मीठी बात कीजिए। वह जा रहा हो तो कुछ दूर उसको छोड़ने जाइये, वह बैठना चाहे तो अपनेसे ऊँचे आसनपर बैठाइए। यदि पलंगपर बैठाना हो तो सिरहानेकी तरफ बैठाइए। ऐसा करनेपर आप देखेंगे कि आपका हृदय कितना सुन्दर कितना स्वस्थ होता है। एक बात आप ध्यानमें रखो यह व्यापारकी ही बात है। हम लोग भी एक प्रकारसे व्यापारी ही हैं। बात यह है कि यदि आप किसी फायदे-की खुशीमें व्यापार करेंगे और मान लेंगे कि आगे भी फायदा होता जायेगा तथा विचार करना छोड़ देंगे तो नुकसान उठावेंगे। कभी घाटा होनेसे घबड़ाकर कदम उठावेंगे तब भी आपका व्यापार गलत होगा। अतः न तो इतने खुश हो जायें कि कदम गलत पड़े और न इतने घबरा जायें कि कदम गलत पड़े। हमने देखा है जब किसी व्यापारीको घाटा होता है तो वह कहता है कि अभी एक रातमें करोड़पति हो जाऊँगा और ऐसे-ऐसे सौदे कर लेता है जिससे उसकी हालत पहलेसे भी खराब हो जाती है। इसलिए घबराहटमें, उतावलीमें कोई काम नहीं करना।

न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढ़ो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥ ५.२०

यदि मनका काम हो जाये, मनकी चीज मिल जाये, मनका आदमी मिल जाये तो बहुत हर्ष नहीं करना चाहिए। यदि प्रसन्नता प्रकट करनी ही हो तो सन्तुलित करनी चाहिए। आज तो सुनते हैं कि मुस्कराहटकी कला भी सिखायी जाती है। यह बताया जाता है कि आप कभी मुस्कराएँ तो आपका ओठ किस कोणपर टेढ़ा हो, नहीं तो मुस्कराहट गलत हो जायेगी, आपका मुँह बिगड़ जायेगा। कितना मुस्कराना, कितना हँसना कि पड़ोसीकी नींद ही हराम हो जाये। हँसीमें भी सन्तुलन चाहिए। इसी तरह फुक्का फाड़कर, फफक-फफककर रोना भी नहीं चाहिए। रोने पर भी आपका काबू होना चाहिए, नियन्त्रण होना चाहिए। जहाँ रोना चाहिए वहाँ जरूर रो लीजिए। किसीके घरमें मातमपुर्सी करने जाइये तो थोड़ी देर रो लीजिए। इसमें कोई हर्ज नहीं। रोनेकी भी कई रीतियाँ हैं। कुछ लोग जुबानसे, कुछ चेहरेसे, कुछ बोलकर और कुछ बिना बोले भी रोते हैं। लेकिन यदि आप एक साथ दो घरोंमें जानेके लिए निकले हैं—एक घरमें कोई मरा है और दूसरे घरमें बेटा हुआ है तब क्या करेंगे ? जिसके घरमें मातमपुर्सी करनी है वहाँ मातमपुर्सी कीजिए और जिसके घरमें खुशी मनानी है, वहाँ खुशी मनाइए। आप एक हैं, जैसा निमित्त सामने आये वैसा बरत लीजिए। लेकिन एकके दुःखमें इतने दुःखी न हो जायें कि सुखीके घर जाकर भी दुःख प्रकट करने लगें और दूसरेके सुखमें इतने सुखी न हो जायें कि दुःखीके घरमें सुख प्रकट करने लगें। अपने आपको स्वस्थ और तटस्थ रखनेका नाम ही मुक्ति है। आप उस दुःखीसे भी मुक्त हैं जिसके घरसे दुःख प्रकट करने गये

थे और उस सुखीसे भी मुक्त हैं जिसके घरमें सुख प्रकट करने गये थे। इसीलिए किसी कविने कहा है—

सबसे मिलिए सबसे जुलिए लीजिए हरिका नाँव।
हाँजी हाँजी कहते रहिए बैठि आपने ठाँव॥

हम जो लोगोंसे मिलकर, वस्तुओंसे मिलकर अपने आपको, ईश्वरको खो देते हैं, यही हमारा सबसे बड़ा दुःख है और इसीका नाम बन्धन है। जो सबसे मिलता-जुलता हुआ भी अपने आपको सँभाल कर रखता है, उसका नाम मुक्त है। यह नहीं कि दुनियाकी सब बढ़िया-बढ़िया चीजें आपके खानेके लिए आपके भोगनेके लिए हैं। कई लोग पूछते हैं कि बढ़िया चीजोंको खाने और भोगनेसे शास्त्र क्यों मना करता है? इसीलिए मना करते हैं कि उन बढ़िया चीजोंके प्रति आपका राग है और आप उनको हड़पने जा रहे हो। राग-प्राप्त वस्तुके लिए ही तो निषेधकी आवश्यकता होती है। द्वेष प्राप्त वस्तुको तो आप स्वतः छोड़ते जा रहे हैं। कौन सबेरे उठकर स्नान, ध्यान या अन्य सत्कर्म करे? यह आपकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है। इसलिए शास्त्र विधान करता है कि आपको प्रातःकाल स्नान-ध्यान तथा अन्य सत्कर्म करना चाहिए। जब अच्छी चीज आपको नापसन्द है और बुरी चीज पसन्द होती है, तब शास्त्रका जो आदेश है उसे उपयोगी समझकर उसका पालन करना चाहिए।

आप क्या अपनेको ईश्वर अनुभव करते हैं कि आपके मनके खिलाफ कुछ न हो? आप ईश्वर नहीं, ब्रह्म हैं; या तो निर्विशेष ब्रह्म हैं या जीव हैं। इसलिए आपके मनके विरुद्ध कुछ हो ही नहीं, यह नहीं हो सकता। पुरुष कहे कि मन हमारा हो और स्त्री हमारे मनसे चले। मन हमारा और चलनेवाला दूसरा, यह अन्याय नहीं चल सकता। कबतक तुम दूसरोंको गुलाम बनाकर

रखना चाहोगे कि वे तुम्हारे मनके अनुसार चलें ? तो मनको स्वस्थ, सुन्दर बनाना पड़ेगा। जिस तरह मनमें प्रहर्षसे असुन्दरता आती है, उसीतरह उद्वेगसे भी आती है। आप एक कसौटी देखो। अपनी निन्दा सुनकर आपका मन कैसा होता है—**निन्दा चास्य हृदयं नोपहन्यात्**। यदि निन्दासे असन्तुलन हो गया तो आपसे काम बनानेवाले आपकी कमजोरीको पहचान लेंगे और आपकी जीहुजूरी, चापलूसीसे अपना काम बनानेका प्रयास करेंगे। वे आपसे अनुचित काम भी करा लेंगे। आपके जीवनमें सन्तुलन नहीं रह जाएगा, वह एक ओर झुक जाएगा। आप तारीफ, चापलूसी और जीहुजूरीकी तरफ झुक जाएँगे अर्थात् पसन्द करने लगेंगे। यह स्थिति अच्छी नहीं। किसीने कह दिया कि कौआ कान ले गया और डंडा लेकर दौड़ पड़े कौएके पीछे। यह नहीं देखते कि हमारे कान हैं कि नहीं ? हमारा कान अगर सही सलामत है तो कौआ कैसे ले गया ? तो निन्दा करनेवाले हजार निन्दा करें, यदि आपके अन्दर दोष नहीं, तो निन्दकोंकी निन्दा तो अपने आप ही खत्म हो जाएगी। किन्तु यदि आप अच्छे नहीं और आपकी कोई तारीफ करता है, तो वह तारीफ आपके भीतर टिकेगी नहीं और आपका दोष जहाँ-का-तहाँ रह जाएगा। अतः **न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य**। यदि प्रिय शब्द, प्रिय कर्म, प्रिय व्यक्ति और प्रिय भोग मिलें तो हर्षसे फूल नहीं जाना चाहिए। क्योंकि फूल जाना—सूज जाना भी एक दोष ही है। इसी तरह—**नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम्**। नापसन्द चीज मिले तो उद्विग्न नहीं होना चाहिए। **स्थिरबुद्धिरसंमूढो**—बुद्धिमें, ज्ञानमें यहाँ तक प्रतिकूल परिस्थितिमें भी स्थिरता चाहिए। और अच्छी-से-अच्छी परिस्थिति आनेपर भी उसमें सम्मूढ़ न हों तो ब्राह्मी स्थिति प्राप्त हो जाती है। ब्रह्मवेत्ता पुरुष इसीको जीवन्मुक्ति कहते हैं।

अब एक बात आपको और सुना दें। जो लोग चार, छह या आठ तरहकी मुक्ति मानते हैं—जैसे यह सद्योमुक्ति है, यह क्रम-मुक्ति है, यह जीवन्मुक्ति है, यह परलोकमुक्ति है यह सालोक्य-मुक्ति है, यह सामीप्यमुक्ति है, यह सारूप्यमुक्ति है, यह सायुज्य-मुक्ति है, यह सार्ष्टिमुक्ति है, यह एकत्वमुक्ति है—वे मुक्तिके रहस्यको बिल्कुल नहीं जानते। मुक्ति केवल एक है और वह है नासमझीसे, अज्ञानसे, निवृत्ति। अविद्या-निवृत्तिसे उपलक्षित, मोह-निवृत्तिसे उपलक्षित अपने आत्माका नाम ही मुक्ति है, मोक्ष है। निस्संदेह मैं मुक्त हूँ, मुक्ति हूँ, मोक्ष हूँ—तब जब कि नासमझीसे पिण्ड छूट गया। गीता, शास्त्र, वेद, उपनिषद् और श्रीकृष्ण—ये सब हमको नासमझीसे छुड़ानेका प्रयास करते हैं। ये न पूजा करवाना चाहते हैं, न माला फिरवाना चाहते हैं, प्राणायामके द्वारा दम छुटवाना चाहते हैं, न आँख बन्द करके ध्यान लगवाना चाहते हैं और न समाधि लगवाना चाहते हैं। केवल इतना चाहते हैं कि आपके भीतरकी जो नासमझी रह-रहकर आपको दुःख दे रही है वह मिट जाए। सत्सङ्गका फल केवल आपकी नासमझी मिटाना है। शास्त्रका यह तात्पर्य नहीं कि आपको कहीं अन्यत्र ले जाए, आपको कहीं अन्यत्र पहुँचा दे या आपको कुछ और बना दे।

प्रवचन-१०

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥ ५.२०
बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥ २१
ये हि संस्पर्शजा भोगा दुखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥ २२
शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥ २३

जैसा कि कल भी बताया गया भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि आप प्रियकी प्राप्ति करके अत्यन्त हर्षित और अप्रियकी प्राप्ति करके अत्यन्त उद्विग्न न हों। इसमें एक बातपर आप ध्यान दीजिए। वह यह है कि प्रिय और अप्रियकी प्राप्तिको मना नहीं किया गया, केवल हर्ष और उद्वेगको मना किया गया है। सत्पुरुष अथवा श्रेष्ठ पुरुषकी जो पहचान बतायी गयी है, उसमें यह नहीं कहा गया कि उसके जीवनमें प्रिय-अप्रिय नहीं आते। यह तो स्वाभाविक ही है कि जो उसके मनके अनुकूल होगा वह प्रिय होगा और जो उसके मनके प्रतिकूल होगा वह अप्रिय होगा। संसारमें सबके प्रिय-अप्रिय, शत्रु-मित्र, सुख-दुःख और अनुकूल-प्रतिकूल होते रहते हैं। निर्माण तो केवल अपने मनका करना होता है, बाहरकी परिस्थितियोंका नहीं। यही आध्यात्मिक साधना है। साधक अपने मनको ही इतना पक्का कर लेते हैं कि

चाहे जैसा आवेगा, वैसा सहते जायेंगे, सँभालते जायेंगे, पार करते जायेंगे। यदि अपना हृदय ही अपने काबूमें नहीं रहा, उसमें शोथ हो गया तो फिर हम क्या कर सकते हैं? जिस प्रकार शरीरमें शोथका रोग होता है, उसी प्रकार जब संसारकी प्रिय वस्तुओंके प्राप्त होनेपर हृदय फूल जाये, तब समझिये कि वह रुग्ण हो गया। इसी तरह अप्रियकी प्राप्ति होनेपर जब हृदय सूख जाता है तब भी वह रोगी हो जाता है। ये सब मानस रोग हैं। इसलिए अप्रिय घटना घटित होनेपर अप्रिय वस्तु या व्यक्ति मिलनेपर, अनचाही परिस्थितियाँ प्राप्त होने पर मनुष्यको उद्वेग नहीं होना चाहिए। क्योंकि अत्यन्त हर्ष अथवा अत्यन्त उद्वेगमें बुद्धि ठीक काम नहीं करती। बहुत घबराहटमें भी बुद्धि बिगड़ जाती है और बहुत खुशीमें भी बुद्धि बिगड़ जाती है। शास्त्र किसीका हाथ पकड़कर काम करानेके लिए नहीं होते। ये न किसीका हाथ पकड़ते हैं और न किसीसे हाथ पकड़कर काम कराते हैं। **वचनं ज्ञापकं न तु कारकम्**— वचन केवल आपको ज्ञान दे सकता है, आपसे काम करवा नहीं सकता। समष्टिमें प्रिय-अप्रियकी जो परिस्थितियाँ आती हैं, वे कुछ तो प्रकृतिसे आती हैं, कुछ प्रारब्धसे आती हैं, कुछ समाजसे आती हैं, कुछ ईश्वरसे आती हैं और कुछ अनिर्वचनीय अचिन्त्य कारणसे आती हैं। संसारमें सब कुछ हमारे ही करनेसे नहीं होता। इसलिए इसमें अपनेको ऐसा बना लेना चाहिए कि अत्यन्त हर्षमें फूल न उठें और अत्यन्त उद्वेगमें क्लान्त न हो जायें, श्रान्त न हो जायें, गिर न जायें। सौ बातकी एक बात यह है कि हमारी बुद्धि बनी रहनी चाहिए, डांवाडोल बुद्धिसे काम नहीं चलता। भली-भाँति ऊहापोह और पूर्वापर अर्थात् पहले-पीछेका विचार करके, अपने मनमें स्थिरता लानी चाहिए। निश्चय शब्दका अर्थ संस्कृत भाषामें होता है निचोड़ जगह-जगह-

से चुन-चुनकर एक निष्कर्ष, एक निचोड़ निकालनेका नाम निश्चय होता है। चय माने चयन और निः माने निःशेषतया। जैसे कम्प्यूटरमें सारा विवरण ठीक-ठीक डाल दें तो वह उत्तर देता है वैसे ही हमारी बुद्धि भी भूत, भविष्यका पूर्णतया विचार करके किसी निश्चयपर पहुँच जाय तो वह स्थिर बुद्धि होती है।

दूसरी बात बतायी **असंमूढकी**। कहीं अटको मत, कहीं भटको मत। कहीं सटो मत, कहींसे हटो मत। कुछ सटाओ मत, कुछ हटाओ मत। कहीं भी अपने मनमें सम्मोह नहीं होना चाहिए। जो कुछ भी पकड़ें विचारपूर्वक पकड़ें और जो कुछ भी छोड़ें विचारपूर्वक छोड़ें। मोहसे न तो पकड़ें और न मोहसे छोड़ें। क्योंकि मोह तमोगुण है, मोह मनुष्यको अन्धा बना देता है और मोहसे विचार नष्ट हो जाते हैं भाई-भतीजेका पक्षपात भी मोह है, रिश्तेदार-नातेदारका पक्षपात भी मोह है। उससे बुद्धिमें न तो स्थिरता आयेगी और न असम्मोह आयेगा। भगवान्‌को मूढ़ पसन्द नहीं—**गच्छन्त्यमूढा पदमव्ययं तत्**। परमात्माकी प्राप्ति उसको होती है जो अमूढ़ होता है अर्थात् जो मूढ़ नहीं होता। पापोंसे वही छूटता है जो असंमूढ़ होता है—**असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते**। संमूढ तो पापोंमें फँसता ही जाता है अतः **ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः** जो अनन्त है, अपने आत्मासे अभिन्न परब्रह्म परमात्मा है, उसको जानना चाहिए। उसको जानते ही उसमें स्थिति हो जायेगी—**यो हि ब्रह्मविद् भवति स ब्रह्मणि स्थितो भवति**—इसका अर्थ यह है कि आत्मा ब्रह्म है, निश्चितरूपसे ब्रह्म है परन्तु हम जानते नहीं कि ब्रह्म क्या है इसलिए अपनेको दूसरा समझते हैं, दूसरा मानते हैं। जीवनकी यह एक भूल है कि अपनेको सबसे, सर्वात्मासे एक न समझकर केवल देहसे एक

समझते हैं। जिसमें सबका भला है उसीमें अपना भला है। सच्चा आत्महित सर्वहितमें और सच्चा सर्वहित आत्महितमें ही है। इसलिए अपने और परायेको अलग करके जो भलाईकी बात सोची जाती है, वह गलत होती है। उससे केवल हानि होती है, लाभ नहीं होता। पहले लाभ मालूम भी पड़े तो पीछे उससे जो हानि होनेवाली है, वह मालूम पड़ती है। अपने-परायेका जो डर बैठा है, वह झूठा है। आप डरते इसलिए हैं कि अपना पेट अलग और दूसरेके पेटको अलग मानते हैं। पेटके कारण ही अलग-अलग लोगोंके मनमें अलग-अलग डर पैदा होता है। यदि सबके पेटमें एक परमात्मा है—यह बात ध्यानमें बैठ जाये, ज्ञानमें आ जाये, इसका निश्चय हो जाये तो आप देखेंगे सबमें आप हैं और आपमें सब। सच्चा सुख मनुष्यको तभी मिलता है, जब भेद-भ्रमकी निवृत्ति हो जाती है। भेद-भाव तो सर्वथा बाह्य है—

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ।। ५.२१
ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ।। ५.२२

पहली बात यह है कि बाहरसे आकर जो वस्तुएँ हमें स्पर्श करती हैं, उनमें हम आसक्त न हों। स्पर्शको संस्कृतमें त्वाचप्रत्यक्ष कहते है। त्वचासे जिसका अनुभव होता है उसे त्वाच कहते हैं। दुनियामें हम जिन चीजोंको टच करते हैं और दुनियाकी जो चीजें हमको टच करती हैं चिपकती हैं उनमें आसक्ति नहीं होनी चाहिए कि हमको यही मिले, यही मिले। आप लोग तो बड़े अनुभवी हैं जानकार हैं, सब समझते हैं। एक सज्जन इसलिए दुःखी हो रहे थे कि पहले वे लाख रुपयेकी मोटरपर चलते

थे, अब उन्हें तीस पैंतीस हजारकी मोटरपर चलना पड़ता है। ड्राइवर है, दूसरी मोटर है, मकान भी है; परन्तु वे दुःखी इस बातसे हैं कि उनकी वह लाख रुपयेवाली मोटर अब नहीं रही। उनकी धारणा है कि जब वे लाख रुपयेवाली मोटरपर चलते थे, तब बड़े आदमी थे, किन्तु अब छोटी मोटरमें चलते हैं तो छोटे आदमी हो गये हैं। यहाँ आदमी बड़ा नहीं हुआ मोटर बड़ी हो गयी। उसके सामने आदमीका बड़प्पन खतम हो गया।

महात्मा गांधीजीने यह सिद्धान्त स्थापित किया कि जो बढ़िया कपड़ा पहनता है, वही सबसे बड़ा नहीं होता जो गाढ़ा (खद्दर) पहनता है वह सबसे बड़ा होता है। साधुओंने ऐसी ऐसी स्थापना कर दी कि सवारीपर चलनेवाला साधु बड़ा नहीं, जो पैदल चले, वह साधु सबसे बड़ा। यह सब अपनी-अपनी मान्यताएँ होती हैं और जितनी मान्यताएँ पराधीन करनेवाली होती हैं, वही गलत होती हैं। जहाँतक जीवनमें स्वावलम्बन है, स्वाधीनता है, वहाँतक श्रेष्ठ है। अतः जो बाह्य स्पर्श हैं, इनमें कभी अपने मनको आसक्त न होने दें, सटने न दें; वे आयें और जायें—आयें और जायें।

तब मनुष्य सुखी कैसे होगा? **आत्मनि यत् सुखम् तत् विन्दति**—अर्थात् मनुष्यके भीतर जो सुख है, उसी सुखका वह आस्वादन करता है, उसीका लाभ प्राप्त करता है। देखो एक स्त्री है जो पुरुषको देखकर सुखी होती है और एक पुरुष है जो स्त्रीको देखकर सुखी होता है। परन्तु वे स्त्री-पुरुष यह नहीं जानते कि उनके अन्दर क्या सुख है, जो एक दूसरेको देखकर सुखी हो रहे हैं। वस्तुतः धनी तो वह स्त्री है, जिससे पुरुषको सुख मिल रहा है और धनी वह पुरुष है जिससे स्त्रीको सुख मिल रहा है। परन्तु हमें अपनेमें सुख नहीं दिखायी पड़ता।

हम अपने बारेमें अन्धे हो जाते हैं और दूसरोंके सम्बन्धमें सोचने लगते हैं कि अमुकमें बड़ा सुख है, अमुकमें बड़ा स्वाद है और अमुकमें बड़ा आनन्द है।

अध्यात्मिक दृष्टिकोण यह बताता है कि आप अपनी ओर देखिये, अपनेको देखना सीखिये। उपनिषद्‌का कहना है— **आत्मनं मन्वीत**—अपना मनन करो। **आत्मानं पश्येत्, आत्मन्येवात्मानं पश्येत्**—अपने हृदयमें अपने-आपको देखो। तुम स्वयं ऐसे सुख हो जो दूसरेमें सुख मानकर भटक रहे हो, लटक रहे हो। इससे तुमने अपना तिरस्कार कर दिया है और दुनियामें सबसे बड़ा पाप है अपने हृदयमें बैठे हुए आत्मदेवका, परमात्माका तिरस्कार करना। **आत्मनि यत् सुखं तद् विन्दति**—जब हम बाहरसे सुख लेना छोड़ देते हैं, बाहरकी वस्तुओंमें जो आसक्ति है, उससे मुक्त हो जाते हैं तब हमारे भीतरका सुख प्रकट होता है, प्राप्त होता है। सच्चा सुख मिलनेमें बाधा बाह्य वस्तुओंका आकर्षण है। हमने एक सज्जनके घरमें देखा, नौ कुत्ते थे। एक-एक कुत्तेपर इतना खर्च होता था कि उससे नौ बालकोंको एम. ए. कराया जा सकता था। हमारा कुत्तोंसे कोई वैर नहीं, न हम कुत्तोंकी निन्दा ही करना चाहते हैं। हम तो यह कह रहे हैं कि वे सब कुत्ते पूँछ हिला-हिलाकर उनके ऊपर चढ़ते थे, उनको चाटते थे। वे भी एकबार आइसक्रीम अपने मुँहमें डालें तो दूसरी बार कुत्तोंके मुँहमें डालें। दोनों मिल-मिलाकर आइसक्रीम खाया करते थे। कुत्ते उनसे इतना प्यार करते थे कि उनके कन्धेपर चढ़ जाएँ, उनको छातीसे लग जाएँ, उनको चाट लें। कुत्तोंको उनके भीतर कोई सुख दिखायी पड़ता होगा, किन्तु कुत्तोंकी आँखें उनके अन्दर जितना सुख देख पाती थीं उतना सुख वे अपने अन्दर नहीं देख पाते थे। इसको आप क्या बोलेंगे? यही न कि मनुष्य अपने भीतर नहीं बाहरकी ओर देखता है।

पराञ्चिखानि व्यतृणत्स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्—ब्रह्माजीने हमारे इन्द्रिय ऐसे बनाये कि ये दूसरेको देखते हैं, अपनेको नहीं देखते। आपकी आँखें बहुत अच्छी हैं परन्तु क्या उसने अपनी ही पुतली देखी है? आँखोंमें जो श्याम तिल है, इसने क्या कभी अपने आपको देखा है? तो आपकी दृष्टि-शक्ति अपनी आँखकी काली पुतलीको नहीं देख पाती, दूसरेकी भले देख ले। इसका मतलब हुआ कि जो सबसे नजदीक होता है, वह दिखायी नहीं पड़ता। भागवतमें बड़ी चतुराईके साथ यह बात कही गयी है कि जब हिरण्यकशिपु गदा लेकर भगवान् विष्णुको मार डालनेके लिए ढूँढ़ने लगा तो वे डर गये और उन्होंने यह सोचकर कि यदि मैं बाहर रहूँगा तो यह मुझे मारेगा, उसीके दिलमें घुस गये। जब वे उसके दिलमें बैठ गये तो हिरण्यकशिपु उनको पा ही नहीं सका। उसने समझा कि विष्णु मर गया। विष्णु नामकी कोई चीज दुनियामें है ही नहीं। मैंने इञ्च-इञ्च, कण-कण, क्षण-क्षण ढूँढ़कर देख लिया, कहीं भी विष्णु नामकी वस्तु नहीं। यह समझकर हिरण्यकशिपु लौट गया। तो जो चीज सबसे नजदीक होती है, बिल्कुल अपने पास होती है, सबसे ज्यादा अपनी होती है वह नहीं दिखती। कहा भी है—**घर आये नाग न पूजहिं बाँबी पूजन जाहिं**। जो लोग गंगाजीके किनारे रहते हैं वे स्नान करनेके लिए पुष्कर जाते हैं। क्यों? क्या गंगाजीका महत्त्व कुछ कम है? नहीं, वह अपने घरकी गंगा हैं और पुष्कर तो पराया है। पराये मालमें, परायी चीजमें भी रुचि होती है और अपनी विशेषता दिखायी नहीं पड़ती।

तो आत्मसुखकी प्राप्ति, अपने आनन्दकी प्राप्ति तभी होती है जब बाहरसे स्पर्श करनेवाले पदार्थोंके प्रति, उन पदार्थोंके

प्रति जिनको इन्द्रियों द्वारा टच किया जाता है अथवा जो इन्द्रियोंको टच करते हैं, जिनका त्वाच-प्रत्यक्ष ऐन्द्रियक प्रत्यक्ष होता है उनमें जब आसक्ति नहीं होती। हमें आनेवालेके प्रति आसक्ति और जानेवालेके प्रति विरक्ति नहीं होनी चाहिए। हमें तो ऐसी स्थितिमें होना चाहिए कि आओ स्वागत है, जाओ विदा है दोनोंमें समान रहें।

कोई आवे तो उसका स्वागत कर लेना चाहिए और जाने लगे तो थोड़ी देर उसके पीछे चलकर विदा कर देना चाहिए। महात्मा गांधीने गीतापर जो टीका लिखी—टिप्पणी लिखी उसका नाम उन्होंने अनासक्ति-योग रखा। अनासक्ति-योगको कोई निष्काम कर्मयोग, कोई ज्ञानयोग, कोई भक्तियोग, और कोई कर्मयोग कहते हैं। कुछ भी कहो, शब्दोंका अपना महत्त्व है। शब्द-समूह हमेशा हमारी बुद्धिको समझ प्रदान करते रहते हैं। तो जब दुनियामें अनासक्ति हो जाती है तब—**स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते**। जीवनमें सुखके आस्वादनकी प्रक्रिया जाग्रत हो जाती है। असंग होनेपर ही हम कैसे नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त हैं, यह मालूम पड़ने लगता है। आप लोग अनुभवी हैं, भलीभाँति जानते हैं कि आपके जीवनमें कई ऐसे प्यारे आये होंगे, जिनको देखे बिना आँख नहीं मानती होगी। कई ऐसे लोग आये होंगे, जिनको देखकर आँख फेर लेनेका मन हुआ होगा, मुँह कड़वा हो गया होगा, जायका बिगड़ गया होगा, मन बिगड़ गया होगा, परन्तु अब वे कहाँ विलीन हो गये? न वे प्यारे रहे, न वे दुश्मन रहे, और आप ज्यों-के-त्यों बने हुए हैं। यही सृष्टिकी प्रक्रिया है, शैली है, रीति है। अबतक आपकी आँखोंके सामने कितने आये और गये किन्तु आपकी आँखें किसीके साथ नहीं गयी। आपके जीवनमें कितने गन्ध आये और गये, शब्द

आये और, संगीत आये और गये, परन्तु वे कहीं आपके कलेजेमें चिपके नहीं। यह दुनिया ईश्वरकी है और ईश्वरकी इच्छाके अनुसार चल रही है। आप अनासक्त होकर उसका मजा लेते चलो। अनासक्त मनुष्य ही ब्रह्मयोगसे युक्तात्मा होता है अर्थात् उसका मन, उसकी अन्तरात्मा ब्रह्मयोगसे युक्त हो जाता है। फिर उसको अक्षय सुखकी प्राप्ति होती है। जो अपने-आपसे सुखी होता है, वह हमेशा सुखी रहता है और जो दूसरेसे सुखी होता है, वह हमेशा सुखी नहीं रह सकता। जाग्रतकी चीज स्वप्नमें छूट जाती हैं, स्वप्नकी चीजें सुषुप्तिमें छूट जाती हैं, सुषुप्तिका आराम स्वप्नमें छूट जाता है और मनमाने स्वप्न जाग्रत्में समाप्त हो जाते हैं। यह सारी दुनिया ही छूटनेवाली चीजोंसे बनी है। जो दूसरी स्थितिसे, दूसरी वस्तुसे, दूसरे व्यक्तिसे प्रसन्न होगा, उसकी प्रसन्नता उधार ली हुई प्रसन्नता होगी; अपने घरकी नहीं होगी, अपनी नहीं होगी। उधारको संस्कृतमें अध्याहार बोलते हैं। उधारकी प्रसन्नता आपको कभी सुखी नहीं कर सकती। जो आत्मसुखका आस्वादन करता है, उसको बाह्य स्पर्शसे वैराग्य होता है और जो बाह्य स्पर्शमें अनासक्त है, विरक्त है, उसको अपनी आत्माकी ब्रह्मताका बोध होता है। देखो, एक बात इतनी सीधी है कि इसको विद्यार्थी भी, बच्चा भी समझ सकता है। वह यह कि हमें अपना आपा दीखता नहीं; बल्कि वह तो स्वयं देखता है, इतना सबको मालूम है। जब अपना आपा दीखता नहीं तो ये क्षण-क्षण भी नहीं दिख सकते, आयु भी नहीं दीख सकती, इसकी लम्बाई-चौड़ाई भी नहीं दीख सकती, इसका वजन भी नहीं दीख सकता। जब यह स्वयंमें दीखता ही नहीं, तब इसकी लम्बाई-चौड़ाई और वजन कैसे दीखेगा? हम सौ-पचासकी आयुवाले हैं, साढ़े तीन हाथकी लम्बाई-चौड़ाईवाले हैं और हमारा वजन मन-दो-मन है—यह कल्पना अपनी आत्माके

साथ कैसे जुड़ेगी ? जब देखनेवालेके साथ देश-काल-वस्तुका परिच्छेद नहीं जुड़ता तो देखनेवाला अपरिच्छिन्न अद्वितीय ब्रह्मके सिवाय और कुछ हो ही नहीं सकता। जहाँ संसारकी वस्तुओंमें अनासक्ति हुई और अस्पर्शयोगमें अवस्थित हो गये वहाँ ब्रह्मयोग-युक्तात्मा हो जायेंगे तथा अक्षय सुखकी प्राप्ति होगी। एक सुख वह होता है जो क्षयिष्णु है—जिसका क्षय हो जाता है। और, एक सुख वह होता है जो अक्षय है जिसका कभी क्षय नहीं होता। हम अपनेको नशेमें, मोहमें, भूलभुलैयामें डालकर सुखी होना चाहते हैं—**सुखं मोहनमात्मनः। निद्रालस्यप्रमादोत्थम्।** मैंने सुना कि आजकल जवान लोग पान ज्यादा खाने लगे हैं तो मुझे जिज्ञासा हुई और मैंने अपने एक बहुत प्यारे बालकसे पूछा कि तुम पहले तो इस आशंकासे पान नहीं खाते थे कि दाँत खराब हो जाएँगे अब क्यों खाते हो ? उसने बताया कि 'आजकल पान-की दुकानपर एक नशेकी गोली मिलती है। उसीको लेनेके लिए हमलोग पानकी दुकानपर जाते हैं। पानसे हमारा प्रेम नहीं।' तो उस नशेकी गोलीमें क्या है ? निद्रा, आलस्य, प्रमाद। जो उस गोलीको खाकर सुखी होंगे उन्हें जिस दिन वह गोली नहीं मिलेगी, उस दिन उनका क्या होगा ? गोली खानेसे जो सुख मिलेगा उससे तो उनका दिमाग ही खराब हो जाएगा। तो एक सुख वह होता है जो विषयों और इन्द्रियोंके संयोगसे—**विषयेन्द्रियसंयोगात्**—प्राप्त होता है। वह रजोगुणी सुख है। वह पहले तो अच्छा लगता है, बादमें विरस हो जाता है। तीसरा सुख सत्त्वगुणी होता है, जो अच्छी-अच्छी आदतोंको डालनेसे मिलता है—**अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति।** परन्तु इन तीनों सुखोंको सच्चा सुख नहीं मानते, न निद्रा, आलस्य, प्रमादमें सच्चा सुख है, न विषय इन्द्रियके संयोगमें सच्चा सुख है और न अभ्यासजन्य सुख सच्चा सुख है। आप कितना अभ्यास करेंगे ?

हमने देखा, एक सज्जनको गीता इतनी कण्ठस्थ थी कि वे धर्म-क्षेत्रेसे प्रारम्भ करें और मतिर्मम तक बिना रुके बोल जायँ। कभी अन्तसे शुरु करें तो प्रारम्भ तक उलटी बोल जायँ। गीतामें कौन शब्द कितनी बार आया और कहाँ-कहाँ आया—यह भी उनको याद था। लेकिन जब उनकी मृत्युका समय आया तो उनका सारा अभ्यास छूट गया। वे श्लोक बोलना चाहते थे तो उनकी जीभ काम नहीं देती थी। उनकी स्मृति इतनी क्षीण हो गयी कि पूरा श्लोक नहीं बोल पाते थे। कहनेका मतलब यह कि हम यदि उच्चारण अथवा स्मृतिके अभ्याससे चाहें कि कोई चीज अक्षय हो जाए तो वह नहीं होगी। जो अक्षय है, वही अक्षय रहेगा और अक्षय केवल परमात्मा है। इसलिए—

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्। ६.२१

सुख ऐसा होना चाहिए कि उसका कभी अन्त न हो। आत्यन्तिकंका अर्थ है जो अन्तका अतिक्रमण कर जाए। अर्थात् ऐसा सुख हो, जो कालसे अपरिच्छिन्न हो, अविनाशी हो। फिर बुद्धिग्राह्यम् हो अर्थात् जो ज्ञानमात्रसे मिलता हो और जिसके लिए कहीं जाना-आना अथवा कुछ पाना आवश्यक न हो। जो सुख ज्ञानमात्रसे मिलेगा वह तमोगुणी नहीं होगा। तीसरा सुख है अतीन्द्रियम् अर्थात् वह सुख जो विषयों और इन्द्रियोंके संयोगसे न मिलता हो, अपने आप मिलता हो।

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्॥ ६.२३

हम ऐसे सुखी हो जाएँ कि संसारका कोई भी दुःख हमारे साथ चिपके नहीं। हमको सुखके लिए मँगता न बनना पड़े। लोग कहते हैं 'हमारा नियम है हम किसीसे माँगते नहीं, हम मँगते थोड़े ही हैं, भिखारी थोड़े ही हैं।' भिखारियोंके प्रति लोगोंकी बड़ी ग्लानि होती है, बड़ी घृणा होती है। परन्तु आप

विचार कीजिये हमारी इन्द्रियोंकी क्या स्थिति है ? हमारे मनकी क्या दशा है ? क्या हमारे मन और इन्द्रिय दूसरोंसे सुखकी भीख नहीं माँगते ? तो हमें ऐसा सुख चाहिए जो अतीन्द्रिय हो, बुद्धिग्राह्य हो और आत्यन्तिक हो। ऐसा जो रजोगुण, तमोगुण, सत्त्वगुणसे रहित विलक्षण आत्मसुख है, ब्रह्मसुख है, वही अक्षय सुख है। मनुष्यको उस अक्षय सुखकी प्राप्ति होती है — **सुखमक्षय-मश्नुते**। इसमें जो अश्नुते शब्द है उसका अर्थ अश्नाति नहीं होता। अश्नातिका अर्थ होता है खाना–अशितं-नाशितं। अशितं माने भोजन और नाशितं माने नाश्ता। अश्नुते क्रिया पदका अर्थ व्याप्ति है। जैसे लिपि-भेद होता है। अंग्रेजीकी लिपि अलग है, फारसीकी लिपि अलग है, नागरी लिपि अलग है। इस प्रकार भाषाओंकी भिन्न-भिन्न लिपियाँ होती हैं। परन्तु जिसका उच्चारण 'अ' होता है वह एक होता है। तो अश्नुतेका अर्थ यह होता है कि लिपिके आकारका भेद होनेपर भी 'अ' अक्षर है। नित्य है लिपि क्षर है और 'अ' से जिसका उच्चारण किया जाता है वह अक्षर है। अनश्वर है। तो 'अश्नुते' का तात्पर्य यह हुआ कि विषय बदलते हैं, इन्द्रियाँ बदलती हैं, मनोवृत्तियाँ बदलती हैं, वस्तु बदलती है, व्यक्ति बदलते हैं, जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति बदलती है। समाधि और मूर्च्छा बदलती है; परन्तु सुख जैसा-का-तैसा रहता है क्योंकि वह अक्षर होता है। ऐसा कब होगा ? ऐसा तब होगा जब अपना आत्मा ही सुखरूप होगा।

यह सर्वथा स्वतन्त्र और स्वावलम्बी बनानेकी विद्या है। आप अपने सुखको ही बदल लीजिए। परायेके पीछे यह कहते हुए मत दौड़िए कि तू हमको सुख दे जा। यह हमारे अनुभवकी बात है कि आठ-आठ, दस-दस दिनकी रखी हुई बिल्कुल सूखी रोटियाँ जो खाने लायक नहीं, भूख लगनेपर उनको मुँहमें डाला

और चुगलाया तो ऐसा रस निकला, ऐसा स्वाद आया कि उसके सामने ताजी रोटियाँ फीकी पड़ गयीं। तो मनुष्यके मनमें यह भ्रम ही होता है कि अमुक ढंगकी वस्तु मिलेगी, अमुक ढंगके लोग मिलेंगे तभी हम सुखी होंगे। क्या आप बच्चोंके साथ खेलकर सुखी नहीं हो सकते ? क्या आप सामान्य लोगोंसे मिलकर उनके स्तरकी बात-चीत करके सुखी नहीं हो सकते ? अरे भाई, उनके भीतर भी वही आत्मा है, वही परमात्मा है, जो तुम्हारे भीतर है-

> **ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।**
> **आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥** ५.२२

श्रीकृष्णने गीतामें कितनी बढ़िया बात बतायी है। वे कहते हैं कि इस संसारमें जो भोग मिलते हैं और अन्ततोगत्वा दुःखदायी होते हैं। हमारी आँखकी रोशनी जब एक सुन्दर आकृतिका दर्शन करेगी तभी उसकी ओर आकर्षित होगी। ये जो नाना प्रकारके पुष्प हैं, व्यक्तियोंके रूपमें भी पुष्प ही होते हैं ये भी प्रकृतिके पुष्प ही हैं। यह स्त्री है, यह पुरुष है, यह लड़का है, यह लड़की है—इनका सुन्दर रूप देखनेपर हमारी आँख प्रसन्न होती है, एक बढ़िया-सी चिड़िया देखकर खुश होती है बढ़िया-सा कुत्ता देखकर प्रसन्न होती है। और भी बहुत सारी चीजें देखकर हमारी आँख खुश होती रहती है। किन्तु ये जो संस्पर्शज भोग हैं वे बादमें दुःख देते हैं। अर्थात् दुःखके कारण हैं। इनसे जो फल पैदा होता है, वह दुःख होता है। क्योंकि एक जगह जो सुख मिलता है वह फिर दूसरी जगह नहीं मिलता, दूसरे समयमें नहीं मिलता और दूसरेसे नहीं मिलता। फिर उनकी याद करके हम अपना दिल ही तो जलाते रहेंगे।

दूसरी बात यह बतायी कि आद्यन्तवन्तः अर्थात् ये भोग तो मेहमानकी तरह आये हुए हैं। इनका आदि भी है, अन्त भी है।

इनसे प्रीति करना तो परदेशीसे प्रीति करने जैसा है। आज तो ये रास्तेपर मिले, प्याऊपर मिले, तालाबमें मिले, क्लबमें मिले, होटलमें मिले; बादमें फिर कभी मिलेंगे कि नहीं, कुछ ठिकाना नहीं। ये तो मिलकर बिछुड़नेवाले हैं और आगे दुःख देनेवाले हैं। जो फरा सो झरा, जो बरा सो बुताना—जो फलता है वह झड़ जाता है; जो जलता है, वह बुझ जाता है, जो मिलता है वह विछुड़ जाता है—इसलिए क्यों इनसे सुखकी आशा करते हो ?

अब तीसरी बात बताते हैं—**न तेषु रमते बुधः** समझदार आदमी उन भोगोंमें नहीं रमता। रमनेकी जगह तो केवल अपना आत्मा है। **यथा सूत्रेण प्रबद्धो हि शकुनिर्दिशं दिशं पतित्वा अन्यत्रायतनम् लब्ध्वा स्वबन्धनमेव उपाश्रयते**—उपनिषद्का कहना है कि एक चिड़िया सूतसे बँधी हुई है, वह फड़फडाती है। दाहिने जाती है, बायें जाती है, सामने जाती है, पीछे जाती है परन्तु सूतसे बँधी होनेके कारण कहीं दूसरी जगह नहीं जा सकती। अन्तमें जहाँ बँधी हुई है, वहीं आकर बैठ जाती है और उसके फड़फड़ानेकी तकलीफ बिल्कुल मिट जाती है। इसी तरह—**प्राणबन्धनं हि सौम्य मनः** अपना मन अपने आत्माके साथ बँधा हुआ है। वह चाहे कितना भी भागनेकी कोशिश करे, आँखके दरवाजेसे भागे, कानके दरवाजेसे भागे, नाकके दरवाजेसे भागे, जीभके दरवाजेसे भागे, परन्तु वह भाग नहीं सकता। उसको कहीं भी शान्ति नहीं मिलेगी लौटकर वहीं आना पड़ेगा, जहाँ वह बँधा हुआ है। इसलिए सुप्रसिद्ध शायर जौकके शब्दोंमें—

जिस सिरका है यह बाल उसी सिरमें जोड़ दो।
दुनियासे जौक उलफते दामनको छोड दो॥

हमारे मनको शान्ति तभी मिलेगी, जब यह जहाँसे उठकर बाहर भागना चाहता है वहाँ निश्चल होकर बैठ जाये। यदि

यह फड़फड़ानेमें भागनेकी कोशिशमें शान्तिका अनुभव करना चाहेगा तो कभी शान्त नहीं हो सकता। तो भगवान्ने तीन बातें बतायीं। एक तो यह कि दुनियादार लोग जिसको सुख समझते हैं, उसीमें-से दुःख निकलता है। दूसरी यह कि ये आने-जानेवाले हैं, नाशवान् हैं। और, तीसरी यह कि इनमें बुद्धिमान् नहीं फँसते। आप संसारका इतिहास देख जाइये, यहाँ जितने भी सच्चे, शिष्ट सत्पुरुष हुए हैं, वे इन भोगोंमें नहीं रमे। भोगमें रमकर मनुष्य सुखी नहीं हो सकता। सच्चा मनुष्य गुस्सा आनेपर सहनेकी कोशिश करता है, कुछ बोलता नहीं। किन्तु कोई गुण्डा होता है तो कहता है कि मैंने गुस्सा आनेपर बच्चूको खूब सुनाया। इन दोनोंमें-से आप किसको पसन्द करते हैं? अपने आपको तौल लीजिए। निश्चय ही आप गुस्सा सहनेवालेको पसन्द करते हैं—

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥

हम आपको पहले सुना चुके हैं कि गीता जंगलमें भागनेके लिए नहीं, जीवन-युद्धमें अग्रसर होनेके लिए है। अर्जुन जीवन-युद्धसे भागना चाहता था, किन्तु भगवान्ने कहा नहीं, नहीं, तुम जीवनके इस युद्धसे, संग्रामसे पलायन नहीं कर सकते। पलायन-वादी होना अच्छा नहीं। जो तकलीफ तुम्हारे सामने आयी है, उसका सामना करो। भागनेसे कैसे काम चलेगा? तुम अच्छे-से-अच्छेकी उम्मीद रखो और बुरे-से-बुरेका सामना करनेके लिए तैयार हो जाओ—**उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।** उठो जागो और बड़ोंके पास जाकर जानो कि तुम्हारा क्या कर्तव्य है। हमको बचपनमें हमारे गुरुजीने एक मन्त्र बताया—**क्लैब्यं मा स्म गमः।** मैं कहता था कि 'मुझसे साधन नहीं होगा,

आसन नहीं, प्राणायाम नहीं होगा। मेरा मन एकाग्र नहीं होगा।' इसपर गुरुजी बोलते थे—क्लैब्यं मा स्म गमः। अरे, नपुंसक मत बन। यह तो नामर्दका, कायरका काम है। तुम तो यह सोचो कि जो भी आपत्ति-विपत्ति या परिस्थिति हमारे सामने आयेगी, उसका हम डटकर सामना करेंगे, मुकाबला करेंगे, भागनेसे क्या होता है?

तो भाई, इस बातको आप ध्यानमें रखिये। पशुओंके मनमें काम, क्रोधका वेग आता है तो वे उसको तुरन्त चरितार्थ कर लेते हैं। उन्होंने कहीं हरी-हरी घास देखी और मनमें आया तो मुँह मार दिया, लेकिन पशुओंमें भी जो अच्छे कुत्ते होते हैं, उनके सामने भोजन रखा रहनेपर भी तबतक नहीं खाते, जबतक मालिक उनको खानेके लिए न कहे। अच्छे कुत्तेका यही लक्षण है कि आपके घरमें खाने-पीनेकी बढ़ियासे बढ़िया चीजें रखी हों लेकिन वह अपनी मर्जीसे उसमें मुँह न लगावे। जर्मनीसे एक व्यक्ति आया था। उसके साथ उसका अल्सेशियन कुत्ता था। वह उसे जूता सुंघा देता और कह देता कि 'बैठो'। फिर जबतक वह लौटकर नहीं आता, उसका कुत्ता वहीं बैठा रहता। वह बिना दिये कुछ भी खाता नहीं था। कितनी वफादारी थी उस कुत्तेमें। परन्तु मनुष्य अपने मन और इन्द्रियों-को रोक नहीं सकता। कामका वेग आता है कि भोग लें, क्रोध-का वेग आता है कि अमुकको सता लें, दुःख दे लें, वाणीसे क्रोध प्रकट कर लें, क्रियासे क्रोध प्रकट कर लें, मनसे अमुकका बुरा सोच लें, किन्तु वेग भले ही आवे, आप उसे सहनेके लिए तबतक सावधान रहें जबतक यह शरीर है। प्राक् शरीरविमोक्षणात्। यह सामर्थ्य मृत्युपर्यन्त तुम्हारे अन्दर रहे, जीवनके अन्तिम क्षणतक मनमें उत्साह बना रहे कि हम काम, क्रोधके वेगको

सह लेंगे। हमारा संचालक राम होगा, हम सहज भावसे चलेंगे और काम, क्रोधके वेगका कोई प्रभाव हमपर नहीं पड़ेगा। यह असम्भव नहीं। जब काम, क्रोधका वेग आये तो किसी दूसरे श्रमके काममें लग जाओ, कुछ बढ़िया-सी बात पढ़ने लगो, परमात्माके स्वरूपका ध्यान करने लगो। कहीं-न-कहीं अपने मनको लगानेका प्रयास करो। उड़िया बाबाजी महाराज महाभारतका एक श्लोक बोलते थे—

वाचो वेगं मनसा क्रोधवेगं हिंसावेगमुदरोपस्थवेगम्।
एतान् वेगान् यस्तु सहेत धीरो निन्दा चास्य हृदयं नोपहन्यात्॥

जो मनके वेगको, वाणीके वेगको, क्रोधके वेगको, पेटके वेगको, भोजनके वेगको, मूत्रेन्द्रियके वेगको सह लेता है वह महात्मा है। एक बात और बताते थे कि जब कभी अपनी निन्दा सुननी पड़े, परम्परया सुननी पड़े, साक्षात् सुननी पड़े तो इस संकल्पका अभ्यास होना चाहिए कि निन्दा हमारे दिलको चोट नहीं पहुँचा सकती। तो मनमें काम, क्रोधका वेग सहनेका उत्साह और अभ्यास रहना चाहिए तथा उसके संस्कारको ग्रहण न करनेकी सावधानी रहनी चाहिए। जो मनुष्य ऐसा है **स युक्तः स सुखी नरः**—वही युक्त है, वही सुखी है।

तो गीताकी प्रणाली पलायनवादी नहीं। यह तो कहती है कि आप संसारमें रहकर ही अपनी जीवन-यात्राको अविचल ले चलिये। गीताकी दृष्टिमें समाधिस्थसे भी श्रेष्ठ योगी वही है जो व्यवहारमें सम रहे। जो हिमालयमें न जाकर व्यवहारमें समदर्शी रहता है, वही गीताका सर्वश्रेष्ठ सत्पुरुष है–**स योगी परमो मतः**।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन। मनुष्यके सामने सुख भी आवे, दुःख भी आवे, अपना भी मालूम पड़े, परायेका

भी मालूम पड़े, परन्तु वह सबमें समान रहे—**समं पश्यति।** गीताका साम्ययोग है कि बराबर रहो, अविचल रहो। तुम्हारे कदम एक सरीखे पड़ें, गर्मी हो तब भी, सर्दी हो तब भी, आँधी-तूफान हो तब भी और शीतल मन्द सुगन्ध वायु चल रही हो तब भी। ऐसा मनुष्य ही सुखी होगा, शान्त होगा।

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥ ६.२४

भगवान् कहते हैं कि तुम्हारा सुख बाहरसे तुम्हारे भीतर प्रवेश न करे, बल्कि भीतरसे बाहर आये। जैसे ज्वर दो तरहके होते हैं, एक बाहरसे चढ़ता है दूसरा भीतरसे आता है। एक ज्वरका नाम शैव और दूसरे ज्वरका नाम है वैष्णव। एक हाथ पाँव गर्म होकर आता है। दूसरा पहले दिलमें गर्मी पैदा करता है, फिर शरीरमें फैलता है। तो जो सुख बाहरसे भीतर प्रवेश करता है, वह आपको दवा देता है और जो सुख भीतरसे निकल-कर बाहर आता है वह सारी सृष्टिमें फैल जाता है। फिर तो सुख-ही-सुख, आनन्द-ही-आनन्दका अनुभव होता है। वह अनुभव करता है कि आनन्दकी गंगा बह रही है, आनन्दके फुहारे छूट रहे हैं, आनन्दका समुद्र उमड़ रहा है, आनन्दके मेघ वर्षा कर रहे हैं।

मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः।
माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः ॥
मधु नक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिव ँ रजः। मधु द्यौरस्तु नः पिता ॥
मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमा ँ अस्तु सूर्यः। माध्वीर्गावो भवन्तु नः ॥

बृहदारण्यक उपनिषद्में बीस-पच्चीस पदार्थोंका नाम लेकर यह बात बतायी है कि पृथिवी मधु है, जल मधु है, अग्नि मधु है, वायु मधु है, आकाश मधु है, मन मधु है, बुद्धि मधु है, सम्पूर्ण

प्राणी मधु हैं। रात मधु है और प्रातःकाल मधु है। सम्पूर्ण भूतोंका आत्मा मधु है और गौ मधु है। तात्पर्य यह कि सर्वत्र मधु-ही-मधु आनन्द ही आनन्द है। बाहर आनन्द, भीतर आनन्द चारों ओर आनन्द ही आनन्द है। हमारी वनस्पतियाँ मधुमयी हैं, हमारी इन्द्रियाँ मधुमयी हैं। विषय मधुमय हैं, आत्मा मधुमय है—**एष ते आत्मा अन्तर्यामी अमृतः।** अरे, यहाँ दिल बिगाड़नेकी तो कोई जगह ही नहीं। अपने सुखका स्रोत भीतरसे फूटने दो, बाहरके गड्ढोंमें-से पानी भरनेकी जरूरत नहीं।

एक साधारण बात आपको सुनाता हूँ। हम लोग गाँवके रहनेवाले हैं। वहाँ सिंचाई आदिके लिए कूओंसे पानी खींचते हैं। परन्तु कूएँकी एक विशेषता है कि जितना पानी उसमें-से निकला, उतना ही पानी भीतरसे और आ जाता है। तो आपका यह हृदय भी सुखका कूप है। आप इससे सुख निकालकर जितना बाहर फेंकोगे, जितना ही दूसरोंको सींचोगे, जितना ही बाहर वालोंकी प्यास बुझाओगे, उतना ही सुखका झरना आपके भीतर बहेगा, उतना ही सुख-स्वरूप परमेश्वरका अखण्ड प्रवाह आपके भीतर प्रवाहित होगा।

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।

आपका आराम कहाँ है? क्या आप अच्छे गुदगुदे बिस्तरपर सोते हैं तब आपको आराम मिलता है? कभी-कभी बम्बईवाले वृन्दावन आना चाहते हैं तो पूछ लेते हैं कि महाराज, वहाँ एयर कण्डीशन है कि नहीं? वैसे अब तो वृन्दावनमें भी एयर कण्डीशन हैं और लोगोंको सोने-बैठनेके लिए सुलभ होता है लेकिन एयर कण्डीशनके बिना नींद न आना और कमोडके बिना शौचाचार न होना कितनी पराधीनता है? यदि आपका आराम एयर कण्डीशनमें है, डनलपमें है, गद्देमें है, बिजलीमें है, पंखेमें है तो

आपके भीतरका जो सुख है उसका क्या हुआ ? क्या वह सूख गया ?

योऽन्तः सुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।

तो अपने भीतर आराम करो और अपने भीतरसे सुख निकाल-निकालकर बाहर बाँटो । तुम जितना सुख बाँटोगे उतना ही सुख बढ़ेगा और यदि आराम करनेके लिए पराये घरमें जाओगे तो वहाँसे निकलना पड़ेगा और दुःख होगा । अतः अपने घरमें ही आराम करो । जिसको अपने अन्तरसे रोशनी मिलती है उसीकी रोशनी सच्ची होती है । परायेके प्रभावसे जो रोशनी मिलती है वह गलत हो जाती है—

स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ।

तो ब्रह्मभूत योगी ब्रह्मनिर्वाणका अनुभव करता है । वस्तुतः ब्रह्माकार सुख किमभूत किमाकार सुख नहीं होता । आत्माके भीतर आत्माका जो सुख है वही ब्रह्मसुख है । यदि तुम्हारे भीतर सुख है तो जहाँ जाओगे वहाँ सुखी रहोगे और जहाँ रहोगे वहाँ सुखी रहोगे । किन्तु यदि तुम्हारे भीतर सुख नहीं, तो तुम कहीं भी, किसीसे भी और कभी भी दुःखी हो सकते हो । यहाँतक कि तुम सुख पहुँचानेवालेसे भी दुःखी हो सकते हो । इस प्रकार गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण हमारे जीवनके लिए बड़ी-बड़ी कामकी बातें बताते हैं ।

प्रवचन-११

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥ ६.२४
लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥ ६.२५
कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥ ६.२६

भगवान् श्रीकृष्ण उस पुरुषका स्वरूप बताते हैं जिसे परमात्माका अनुभव होता है, ब्रह्मानुभूति होती है और जिसको शान्ति मिलती है। पहले श्लोककी पहली पंक्तिमें तीन बातें हैं— **योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः**—आपका आराम, आपकी ज्योति और आपका सुख। ये तीनों कहाँ हैं? यदि आपका आराम बाहर है, दूसरी जगह है, दूसरेके हाथमें है, आप पराधीन हैं तो न स्वयं आराममें रह सकते हैं और न अन्यको आराम दे सकते हैं। जो धनी होता है वह तो दूसरेको दे सकता है, किन्तु जिसके पास है ही नहीं, वह दूसरेको कैसे दे सकेगा? अतः जिसके पास स्वयंका आराम नहीं, वह दूसरेको आराम देना तो दूर, उद्विग्न ही करेगा। कोई छटपटाता रहे, खाँसता रहे, खटपट करता रहे और दूसरेसे कहे कि आराम कीजिए, तो उसकी खटपट और खाँसनेसे दूसरेको आराम कैसे मिलेगा? दूसरेको आराम देनेके लिए स्वयं आराममें रहना आवश्यक होता है। आरामका अर्थ है सत्ता, ज्योतिका अर्थ है चित्, सुखका अर्थ

है आनन्द और अन्तःका अर्थ है आत्मा, प्रत्यगात्मा, अन्तरात्मा। अपना आत्मा ही सुख है, अपना आत्मा ही आराम है और अपना आत्मा ही प्रकाश है। अब आप विचार कीजिए कि ज्ञान लेनेके लिए, सुख पानेके लिए अथवा आराम करनेके लिए आप पराधीन हैं या स्वाधीन हैं ? यदि पराधीन हैं तो जब आप स्वयं न प्रकाशमें रहेंगे, न आराममें रहेंगे तो आपको शान्ति कैसे मिल सकेगी, जिसका आराम, जिसका प्रकाश, जिसका आनन्द स्वाधीन है, स्वतन्त्र है वही सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें स्थित रहेगा और वही ब्रह्मभूत योगी है।

स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति।

इस बातको बहुत कम लोग समझते हैं कि **सर्वं परवशं दुःखम्** पराधीनता ही दुःख है। **सर्वं आत्मवशं सुखम्** आत्माधीनता ही सुख है और **एतद् विद्यात् समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः**— मनुजीके शब्दोंमें यही सुख-दुःखका संक्षिप्त लक्षण है। यदि आप पराधीन हैं, आपके हृदयमें उद्वेग है, मलिनता है, दूसरेसे सुखकी आशा रखते हैं, तब आप शान्त नहीं। आप शान्त ब्रह्मानन्द-सुख-आराम एवं ज्योतिके समुच्चय सच्चिदानन्दस्वरूप आत्माका अनुभव करोगे तो ब्रह्मभूत हो जाओगे और फिर ब्रह्मनिर्वाण अर्थात् शान्ति ही शान्तिका साम्राज्य स्थापित हो जायेगा—

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः॥ ६.२५

जो शब्दके बदले शब्द जानता है उसको शान्ति नहीं मिलती। पर्यायवाची शब्दोंके ज्ञानमात्रसे किसीको शान्तिका अनुभव नहीं हो सकता। किसीसे पूछा कि कुम्भ माने क्या ? उत्तर मिला कि कलश। कलश माने क्या ? घट। घट माने क्या ?

घड़ा। घड़ा माने क्या ? तो बोला मैं नहीं जानता, आप जानें। तो; जो लोग काव्यकोष और व्याकरण द्वारा एक शब्दके बदले दूसरा शब्द जानते हैं, उनको शान्तिकी प्राप्ति नहीं होती। शान्तिकी प्राप्तिके लिए ऋषि होनेकी आवश्यकता है। संस्कृत-व्याकरणके अनुसार ऋषितत्त्वार्थं दर्शने—ऋषि उसे कहते हैं जो तत्त्ववस्तुको देखता है, जिसको तत्त्वार्थ-दर्शन होता है। किसी भी चीजकी शक्ल-सूरत छोड़कर जो उनके उपादानका ज्ञान प्राप्त कर ले और इस बातको पहचान ले कि सबमें ब्रह्म है, सत् है, चित् है आनन्द है, उसको ऋषि कहते हैं। उस तत्त्वदर्शी ऋषिको ब्रह्मनिर्वाणकी प्राप्ति होती है। जो केवल शक्लसूरतको देखनेमें और नामोंको याद करनेमें संलग्न रहते हैं उनको ब्रह्मनिर्वाणकी प्राप्ति नहीं होती। शक्ल-सूरत तो बिल्कुल ऊपरी चीज है। कोई वस्तु त्रिकोण है कि चतुष्कोण, यह उसका आकार हुआ, आकृति हुई और लाल है कि पीली, यह उसका रंग-रूप हुआ। रंग-रूप आकृति दूसरी चीज है। ये दोनों तत्त्वमें उभारी जाती हैं, अध्यारोपित होती हैं। सोनेमें आप जेवर बनाते हैं तो कंगन बना या कुंडल – ये दोनों उसकी आकृतियाँ हैं और उसपर पच्चीकारी या पालिश करनेसे उसकी शक्ल-सूरत उभरती है, आकृति पृथक् होती है और रूप-रंग पृथक् होता है। **अनारोपिताकारं तत्त्वम्**—तत्त्व वह होता है जिसमें आकारका आरोप नहीं। जो न सोना है, न कंगन, न कुण्डल है न सिल्ली, न चूर्ण है न द्रव; सबसे अलग एक तेजोमय धातु है, वह तत्त्व है। जो उस सोनेको पहचानता है, वह उससे बने हुए कंगन, कुण्डल, हार आदिको भी पहचान लेता है, किन्तु जो सोनेको नहीं पहचानता उसके लिए उससे बने आभूषण नकली सोनेके हैं या असली सोनेके और उसकी क्या कीमत है, इसकी कोई परख नहीं। वह आभूषणोंकी शक्ल-सूरत,

डिजाइन देखकर ही उनपर मुग्ध हो जायेगा और जिसकी कोई कीमत नहीं, उसकी बहुत बड़ी कीमत चुकायेगा। कीमत रुपये-पैसोंके रूपमें ही नहीं होती, अपना जो परिश्रम है, अपनी जो बुद्धि है, प्रतिभा है, अपना जो जीवन है वह सबसे अधिक मूल्यवान है। उसको खर्चना, शून्य कर देना ही सबसे बड़ी कीमत है। 'ख' माने शून्य और रचना माने बनाना, इस प्रकार खर्चना माने तिजोरी खाली कर देना, अपने जीवनकी पूँजी नष्ट कर देना। किसके लिए कि जिसका कोई मूल्य नहीं। मूल्यांकन नहीं उसके लिए। तो ब्राह्मी स्थिति, ब्राह्मी शान्ति, ब्रह्मानन्द, ब्रह्मज्ञान उन लोगोंको मिलता है जो किसी पदार्थकी शक्ल-सूरतमें, आकृति-विकृतिमें नहीं फँसते बल्कि उसकी असलियत, असल तत्त्वको पहचानते हैं। **न सलति इति असलम्**—जो निर्गत नहीं होता, भागता नहीं, परिवर्तित नहीं होता उसका नाम होता है असल। मूल धातुसे ही सलिल शब्द भी बनता है। जो असल वस्तुको देखते हैं उन्हें ब्रह्मनिर्वाणकी प्राप्ति होती है। उसके लिए चार पहचान बतायीं—**क्षीणकल्मषाः छिन्नद्वैधा, यतात्मानः** और **सर्वभूतहिते रताः**। वे व्यवहारमें सर्वभूतहितरत होते हैं, सबकी भलाई करते हैं। सबको भलाईमें ही अपनी भलाई है, यह बात हम आपको अनेक बार बता चुके हैं। सबका आत्मा अपना आत्मा है और अपना आत्मा सबका आत्मा है। अपना अहित करोगे तो सबका अहित और सबका अहित करोगे तो अपना अहित अवश्यम्भावी है। सर्वभूतहिते रताःका अर्थ है स्वसहित संसारके सभी प्राणियोंके हितमें तत्पर रहो, तब परमसुख परम शान्तिकी प्राप्ति होगी। यदि कहो कि सबके हितमें कैसे लगें तो उसका उपाय बताया—यतात्मानः। अपनी इन्द्रियोंको, अपने मनको नियन्त्रणमें, काबूमें रखो। इन्द्रियोंको, मनको काबूमें रखनेका मतलब उनको मारना नहीं। यदि इनको मारना ही

इष्ट होता तो ये आपको दिये ही न जाते। इन्द्रिय और मन मारनेके लिए नहीं, काम लेनेके लिए हैं। इनसे काम तभी ठीक लिया जाता है, जब ये काबूमें रहें, नियन्त्रणमें रहें। जैसा कि पहले भी कहा यतात्मानः का अर्थ है कि जब हम चाहें न बोलें तो वाणी न निकले। इस प्रकारके नियन्त्रणके लिए व्यवस्थाकी, मर्यादाकी, प्रबन्धकी आवश्यकता है। यह नहीं कि जीभ बोलने लगी तो घड़ी आगे बढ़ गयी। घड़ीने समयका उल्लंघन कर दिया और जीभ बोलती रह गयी। जैसे घड़ीकी सूई व्यवस्थित रूपसे चलती है वैसे ही जीभ भी व्यवस्थित रूपसे हिले, पाँव भी व्यवस्थित रूपसे चलें और हाथ भी व्यवस्थित रूपसे काम करें। जब हम काम करना चाहें तभी काम हों और जब बन्द करना चाहें तभी बन्द हो। इस प्रकार मत दौड़ो कि जब रुकनेका समय आवे तो रुक ही न सको। तुम्हारी मोटर इतनी तेज नहीं चलनी चाहिए कि काबूसे बाहर हो जाए। उसे जहाँ रोकना है वहाँ वह रुक जानी चाहिए। तो यतात्मानः का तात्पर्य है कि हमारा मन, हमारी इन्द्रियाँ हमारे अधीन हों। जो बोलना उचित हो वही हम बोलें। जो करना उचित हो वही करें। जहाँ जाना चाहिए वहाँ जायें। किसी भी अनुचित दिशाकी ओर हमारा मन, इन्द्रिय और बुद्धि न ले जायें हम यतात्मानः होनेपर ही सबका भला कर सकते हैं और सर्वभूतहिते रताः वही हो सकते हैं जो अपनेको काबूमें, नियन्त्रित और मर्यादित रखते हैं। अच्छा जो कर्ममें कोई दोष न रहे—यह तो हुआ सर्वभूतहिते रताः और मन-इन्द्रियोंमें कोई दोष न रहे—यह हुआ यतात्मानः। परन्तु ऐसा कैसे होगा? तो बोलते हैं कि छिन्नद्वैधाः। द्विधा, द्वि-विधा, दुविधा। कभी-कभी लोग दाहिने जायें कि बायें जायें—इसका निश्चय करनेमें भी देर करते हैं। एक पिता अपने दो बच्चोंका भेद बताते हुए कह रहे थे कि व्यापार-सम्बन्धी निर्णय लेनेमें

एकको जहाँ सात दिन लगते हैं वहाँ दूसरा वही निर्णय दो मिनटमें कर लेता है। यह पहले ही दिन जो बात कह देता है, उसको समझकर निश्चयपर पहुँचनेमें दूसरे लड़केको सात दिन लगाने पड़ते हैं। दोनों लड़के एक हो माता-पिताके हैं, एक ही वाता-वरणमें पले हैं, लेकिन उनके निश्चयमें बड़ा अन्तर पड़ जाता है। जो निश्चय नहीं कर सकेगा कि दाहिने जाना है कि बायें, सामने जाना है कि पीछे उसको द्विधा या दुविधा बनी रहेगी, द्वैध बना रहेगा, संशय बना रहेगा।

एक आदमी नदीमें तैर रहा था। उसको यह तो मालूम था कि इसी नदीके किनारे हमारा घर है और घर पहुँचना है। पर तैरते-तैरते उसको यह ख्याल नहीं रहा कि उसका घर नदीके दाहिने है या बाँये ? अब वह थोड़ी देर बायीं ओर तैरे फिर दायीं ओर तैरने लगे। जब उसकी दुविधा दूर हुई तभी वह घरकी दिशाकी ओर तैरकर पार हुआ और घर पहुँचा। तो, सबकी भलाई करनेके लिए अपने मन और इन्द्रियोंपर काबू होनेके साथ-साथ निश्चयात्मक ज्ञान होना जरूरी है—**छिन्नद्वैधाः**। दुविधा या संशय तो बड़ा भारी पाप है **संशयात्मा विनश्यति, नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः**—ये गीताके ही वाक्य हैं। संशय एक प्रकारकी निद्रा ही है। जिस धातुसे 'शयन' शब्द बनता है, उसी धातुसे सम् उपसर्ग जोड़कर संशय शब्द बनता है। सम्+**शयनं = सम्यक् शयनं** और **सं + शयः = संशयः**। तो संशय माने शयन, निद्रा। जब मनुष्य इस प्रकारके संशयमें अपना जीवन व्यतीत करता है कि यह कर्तव्य है या अकर्तव्य, यह भोक्तव्य है या अभोक्तव्य, तो उसका जीवन ठीक व्यतीत नहीं होता। अनिश्चयात्मक जीवनमें मन और इन्द्रिय वशमें नहीं रहते और उसके द्वारा लोकोपकार भी नहीं होता। तो,

यह संशय कैसे मिटे ? इसका उत्तर दिया कि **क्षीणकल्मषाः लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणम्।** इसमें लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणं तो है फल और क्षीणकल्मषाःका अर्थ है जिसके मनमें पापवासना नहीं, जो **अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा**—कर्मसे, मनसे, वाणीसे किसीका भी बुरा नहीं चाहता। तो तात्पर्य यह कि पहले अपने मनकी पापवासना नष्ट हो। फिर दुविधा अथवा संशय समाप्त हों, मन-इन्द्रियाँ वशमें हों, सबकी भलाईके लिए काम किया जाये। तब **लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणम्**—ब्रह्मनिर्वाणकी प्राप्ति होती है।

अब जब आप जीवभावको छोड़कर ब्रह्मभावमें शान्त हो गये, लीन हो गये और ब्रह्मनिर्वाणकी प्राप्ति हो गयी तब—

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्॥

काम और क्रोधका आना बुरा नहीं, इनके वशमें हो जाना बुरा है। काम क्रोध तो हमारे अन्त.करणमें बीजरूपसे मौजूद हैं और अन्तःकरण हमारे शरीरके भीतर है। इतना सुरक्षित अन्तःकरण इसीलिए प्राप्त हुआ है कि हम किसीसे बचना चाहते हैं और किसीको पाना चाहते हैं। ऐसी स्थितिमें हमारे मनमें कभी कामना या क्रोध न आये यह सम्भव नहीं। अतः काम, क्रोध आ जाएँ तो ऐसा नहीं समझ लेना कि आप नीच हो गये, हीन हो गये, गिर गये। बल्कि यह प्रयत्न करना चाहिए कि यदि काम-क्रोध आ जाये तो उनपर विजय प्राप्त करें। उनके अनुसार हम नहीं चलें, हमारे अनुसार वे चलें। हम कामको जान-बूझकर भगवान्की ओर लगा दें, क्रोधको जान-बूझकर बुराईके निवारण-की ओर लगा दें और इस प्रकार अपने हृदयको शुद्ध कर लें—

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।

कभी-कभी तो काम आनेपर आप जान-बूझकर क्रोध बुला

लीजिये, तो काम भाग जायेगा। यह काम-निवारणका युक्ति है। इसी प्रकार कभी क्रोध आये तो वह काम बुलानेपर भाग जायेगा। ये दोनों परस्पर ऐसे हैं कि एकके आनेपर दूसरा चला जाता है। वृन्दावनमें एक सज्जन हमारे पास बहुत ज्यादा बैठते थे। हम जानते थे कि अमुक व्यक्ति आ जाये तो ये चले जाएँगे। इसलिए उनके आनेपर हमारे एक मित्र अमुक व्यक्तिको बुला लेते और वे उनको देखते ही चले जाते। अमुक व्यक्ति भी कैसे जाएँगे यह हमें मालूम था। वे हमारे हाथमें अखबार देखते ही अथवा कमरेमें रेडियोकी आवाज सुनते ही उठकर चले जाते थे। उनको अखबार, रेडियो दोनों पसन्द नहीं थे, बस उन्हें हाथमें देखा और भागे। असलमें मनुष्यको मालूम होना चाहिए। तो काम क्रोधादिकी दवा यह नहीं कि हम इनको छोड़ दें। इनका प्रयोग औषधके रूपमें करना चाहिए। आप क्रोधपर कामका, कामपर क्रोधका और काम-क्रोधपर लोभका प्रयोग करें। आप इस प्रकार सोचें कि यदि यह भोग हम करेंगे और इस जगहपर क्रोध करेंगे तो हमारी आमदनीमें बाधा पड़ेगी। हमारा जो मुनाफा है वह कम हो जायेगा। लोभका प्रयोग करते ही काम-क्रोध शान्त हो जायेंगे। इसी तरह कामका प्रयोग करनेसे क्रोध, लोभ दूर हो जाते हैं। ऐसा करनेपर आप देखिये कि ये जो दोष हैं वे औषधके रूपमें आपके जीवनमें आने लगेंगे। इसलिए हमेशा प्रयत्नशील रहिये और अपने मनको काबूमें रखिये। वस्तुतः सारी साधना ही समझदारीकी है। जो नासमझ हैं, वे करोड़ों ध्यान करें, समाधि लगावें, उनकी बेवकूफी तो बनी ही रहेगी। किन्तु जो समझदार हैं, वे अपनी प्रज्ञासे, अपनी बुद्धिसे उस लाभको अनायास प्राप्त कर लेंगे, जो दूसरेको बहुत बड़ा प्रयास करनेपर मिलता है। वास्तवमें प्रज्ञा, बुद्धि, समझदारी बहुत बड़ी वस्तु है। हमारे यहाँ प्रज्ञा, बुद्धि, ज्ञान और ब्रह्मविद्याका

जितना बड़ा आदर है, उतना विश्वसृष्टिके किसी भी धर्ममें नहीं। कुछ भी हो जाये, पर हमारी बुद्धि नष्ट न हो। दुर्भाग्यवश लोग नशा पीकर, भावनाके आवेशमें अथवा अन्य अनेक साधनोंसे अपनी बुद्धिको दबाते हैं, नष्ट करते हैं। किन्तु ऐसा करना नहीं चाहिए। बुद्धि रही तो सब कुछ रहा, बुद्धि गयी तो सब कुछ गया। अतः हमें विदितात्मनाम् बनकर रहना चाहिए। अपने-आपको हमेशा जगमग-जगमग बनाये रखना चाहिए।

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ॥
यतेन्द्रियमनो बुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः॥ ५.२७-२८

सदा मुक्तका अर्थ है कि आप हमेशा मुक्त हैं। आप यह कल्पना छोड़ दें कि जब समाधिमें जाएँगे तब मुक्त होंगे या जब ब्रह्मलोकमें जाएँगे तब मुक्त होंगे, या जब ब्राह्मी स्थिति होगी तब मुक्त होंगे। बन्धन माने हमारी बुद्धिका दोष। अज्ञानके सिवाय, नासमझीके सिवाय बन्धनका और कोई कारण नहीं। यह तो—**प्रज्ञापराध एव एषः**—हम जिसको दुःख कहते हैं वह हमारी समझका कुसूर है, हमारी प्रज्ञाका अपराध है। समझदारीके साथ प्रकाश रहता है, वहाँ न अन्धकार है और न दुःख। समझ ही प्रकाश है, समझ ही परमानन्द है। इसलिए जिसकी बुद्धि निरन्तर जगमगाती रहती है, झिलमिल करती रहती है उसके लिए चारों ओर सुख-ही-सुख है।

तो अब एक बात यह है कि यदि आप श्रम करते हैं तो थोड़ा विश्रामका भी ध्यान रखें—**स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्च**। हमारे जीवनमें एक ऐसा अभ्यास चाहिए, एक ऐसी दृष्टि चाहिए कि हम बिना किसी वस्तुको पकड़े भी, बिना कोई काम किये

भी रह सकें। अपने जीवनमें थोड़ा-सा समय ऐसा होना चाहिए, जब हम कर्मसे, विषयोंके दर्शनसे निवृत्त होकर अपने स्वरूपमें शान्त बैठें। जो दिनभर काम तो करता है, लेकिन जिसके जीवनमें समयपर सोनेकी व्यवस्था नहीं, वह ठीक-ठीक काम नहीं कर सकता। श्रमके लिए विश्राम चाहिए। जब जीवनमें अनेक प्रकारके उपद्रव, विक्षेप सहन करते हैं तो थोड़ा-सा समय निरुपद्रव, शान्तिके लिए भी चाहिए। अपनी दृष्टिको बहिर्मुखी होनेसे बचाकर थोड़ी देर शान्त होकर बैठ जाइए। सांस बराबर हो, शरीर बराबर हो और इन्द्रिय, मन, बुद्धि भी बराबर हो। जो अपने जीवनमें श्रम और विश्राम दोनोंको सन्तुलित रखता है, श्रम ठीक करता है, विश्राम ठीक करता है, जागता ठीक है, सोता ठीक है, व्यवस्थापूर्वक जीवन-यापन करता है, वह हमेशा मुक्त ही है, कभी आबद्ध नहीं होता।

पाँचवें अध्यायके अन्तमें भगवान् श्रीकृष्णने जो बात बतायी है, वह बहुत बढ़िया है। आप ध्यान दो—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥ ५.२९

शान्ति तो सबको चाहिए, उद्वेग किसीको भी पसन्द नहीं। असलमें उद्वेग अपनी वस्तु नहीं, वह तो गुंडेकी तरह आता है और फिर भाग जाता है। कोई भी मनुष्य चाहे कि हम केवल उद्विग्न जीवन व्यतीत करेंगे तो वह वैसा कर नहीं सकता। कोई कहे कि हम हमेशा असत्य ही बोलेंगे तो वह बोल नहीं सकता। हम एक सज्जनके घर गये। वे बोले कि 'महाराज! मैं झूठ-ही-झूठ बोलता हूँ।' मैंने कहा कि आप जो इस समय बोल रहे हैं, यह क्या है? क्या यह सत्य नहीं? इसपर वे सज्जन चुप हो गये। यदि कोई निरन्तर झूठ बोले तो क्या होगा? यदि वह

मुँहको नाक और नाकको मुँह कहेगा तो लोग उसकी भाषा नोट कर लेंगे और आपसमें कहेंगे कि भाई, जब यह मुँह बोले तो नाक समझना और नाक बोले तो मुँह समझना। असत्य बोलकर कोई अपना जीवन-यापन नहीं कर सकता। उसको सत्य बोलना ही पड़ेगा। इसी प्रकार किसीका जीवन निरन्तर हिंसामय नहीं हो सकता किन्तु अहिंसामय रह सकता है। चोरीका जीवन हमेशा नहीं रह सकता किन्तु साधुताका जीवन हमेशा रह सकता है। परिग्रहका जीवन हमेशा नहीं हो सकता किन्तु अपरिग्रहका जीवन हमेशा हो सकता है। यही सद्‌गुणका स्वभाव है, उसकी विशेषता है।

शान्ति आत्मधर्म है, आत्मस्वभाव है, आत्मगुण है। आप निरन्तर शान्त रहिये। अशान्तिको तो जबरदस्ती पकड़ना पड़ता है। किन्तु शान्तिके लिए कुछ करना नहीं पड़ता, कुछ समझना अवश्य पड़ता है। आपको कई दिन सुना चुका हूँ कि सिर्फ समझ लेनेसे, जान लेनेसे, केवल ज्ञानमात्रसे ही यह मालूम पड़े कि अमुक वस्तु हमको मिली हुई है, तो वह ज्ञान होनेके पहले भी अज्ञान कालमें भी मिली हुई ही थी। वेदान्त-दर्शनका यह कहना है कि आप भूल गये हो, इसीलिए अमुक वस्तु आपको नहीं मिली। वह आपकी जेबमें पहलेसे ही थी, अब याद आनेसे आपको मिल गयी।

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।

आप परमात्माको पहचानो, वह हमारा सुहृद् है। इसको ऐसे समझो कि किसी विद्यालयमें कोई सज्जन गये। उन्होंने सब विद्यार्थियोंको देखा। एक विद्यार्थी बड़ा स्वस्थ, बड़ा सुन्दर, बड़ा प्रतिभाशाली लगा। उनको कोई लड़का नहीं था। उन्होंने मनमें ही उसे गोद लेनेका निश्चय कर लिया और विद्यालयके

अध्यक्षसे कहा कि उस गरीब बच्चेके खाने-पीने-रहने आदिकी सब व्यवस्था कर दो, उसका सारा खर्च हमारे यहाँसे आयेगा। जब वह लड़का पढ़-लिख गया तब उन्होंने उसको बुलाया। वह डरने लगा कि इतने बड़े आदमीके पास मैं कैसे जाऊँ। उसको तो यह भी मालूम नहीं था कि उसका जीवन-निर्वाह कौन करता है। परन्तु जब वह गया तो उन्होंने उसको अपने बराबर बैठाया और बताया कि मैंने जिस दिन पहले-पहल तुमको देखा था, उसी दिन तुमको अपना पुत्र बना लिया था। तुम तो मेरे पुत्र हो। अब उस लड़केको यह ख्याल आया कि अरे, मैं तो बहुत दिनोंसे इनका पुत्र हूँ, आत्मीय हूँ, प्रेम-पात्र हूँ। फिर वह आनन्दमें भर गया। इसी तरह हमारे भगवान् हैं, परमेश्वर हैं, जो सबके सुहृद् हैं, सबकी भलाई चाहते हैं। श्रीरामानुजाचार्यजीने अपने व्याख्यानमें एक उदाहरण दिया है। पिता और पुत्र एक नावसे एक ही घाटपर उतरे। परन्तु बहुत दिनोंसे बिछुड़े होनेके कारण एक दूसरेको पहचानते नहीं थे। सामान रखनेमें लड़ाई हो गयी। पुत्र कहे हमारा, पिता कहे हमारा। जब किसी तीसरे व्यक्तिने जो उन दोनोंको लेनेके लिए आया था, उनका परस्पर परिचय कराया तब उन्हें पता चला कि वे एक दूसरेसे मिलनेके लिए ही आये हैं फिर वे आपसमें मिल गये। यह कथा षड्गोपाचार्यकी गीतिमें भी है। द्रविणाचार्य-की भी यह उक्ति है। शङ्कराचार्यने ठीक यही उपाख्यान 'बृहदारण्यक उपनिषद्' के भाष्यमें दूसरे ढंगसे लिखा हुआ है। उनका कहना है कि एक राजकुमार बचपनमें चोरी चला गया था। वह डाकुओंमें रहा, उन्हींमें बढ़ा। कुछ लक्षणोंके आधारपर कभी पहचान लिया गया और उसे बताया गया कि तुम तो राजकुमार हो। वह राजकुमार तो पहलेसे ही था। उसे मालूम पड़ा और अपने राजकुमारपनेका अनुभव हो गया। तो सुहृदं

सर्वभूतानां—ईश्वर हमारा सुहृद् है, मित्र है। वह सोते-जागते, सपना देखते, रणमें, वनमें, सर्वत्र हमारी मदद करता है। आवश्यकता ईश्वरको सुहृद् बनानेकी नहीं, उसके सुहृद्पनेको जाननेकी है। किसीने कहा कि ईश्वर किसी-किसी बड़े आदमीका होता होगा। बोले—नहीं, वह सबका सुहृद् है। कितने आश्वासनकी बात है। जो लोग अपने पापसे, तापसे, उद्वेगसे, दोषोंसे बहुत व्याकुल हैं, उन्हें निराश न होकर यह निश्चय करना चाहिए कि ईश्वर उनका भी मददगार है, मित्र है भला चाहता है। यह जाननेमात्रसे ही उनको आश्वासन मिलेगा। लोग कहते हैं कि वैदिक धर्ममें, हिन्दू धर्ममें पापोंकी चर्चा बहुत है। ठीक है, पापोंकी बात है, परन्तु उसके साथ-साथ आश्वासन-की भी तो बात है। कोई चाहे कितना भी पापी हो किन्तु एक राम नाम, एक ज्ञान, एक भाव, एक स्मृति उसका कल्याण कर देगी। मनुष्यके कल्याणके लिए इतना बड़ा आश्वासन अन्य धर्मोंमें मिलना बड़ा मुश्किल है। हमारा धर्म तो आश्वासनका धर्म है।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।

परमेश्वर यज्ञ और तपस्याका भोक्ता है। यज्ञका फल या तो उसको मिलता है जो यज्ञ करता है अथवा उस देवताको मिलता है जिसके उद्देश्यसे यज्ञ किया जाता है। परमेश्वर कर्ताके अन्दर अन्तर्यामी रूपसे बैठा है और भोक्ताके अन्दर भोक्ताके रूपमें भी बैठा हुआ है। असलमें हमारा आत्मचैतन्य ही अन्तःकरणमें प्रवेश करके अहंको कर्ता बना देता है और वही अपने मनसे बनाये हुए देवताके शरीरमें प्रवेश करके उसको भोक्ता बना देता है। देवतामें भोक्तारूपसे और अन्तःकरणमें कर्तारूपसे एक ही परमेश्वर बैठा हुआ है। जो भोक्तृदेवतावच्छिन्न चैतन्य

है, वही कर्तृजीवावच्छिन्न चैतन्य है। भोक्तारं यज्ञतपसां का दूसरा अर्थ ऐसे समझो कि आप जो दूसरोंको खिलाते हैं, दूसरोंका उपकार करते हैं, भला करते हैं, उसका नाम ही यज्ञ है। और, आप अपने शरीरमें जो संयम करते हैं उसका नाम तप है। तो, स्वयं अपनेको संयममें रखिये और दूसरोंको सुख पहुँचाइये। निश्चय ही इसका उपभोग ईश्वर करेगा। ईश्वर ही आपके शरीरमें बैठकर आपके संयमका स्वाद लेता है और सामनेवालेके शरीरमें बैठकर उसके सुखका आस्वादन करता है। वह सबका स्वामी सर्वलोकमहेश्वर है। उसके लिए अपना काम ठीक कीजिये। ईश्वर कैसे प्रसन्न होगा, इसकी चिन्ता किये बिना आप इस बातपर दृष्टि रखिये कि आपका अन्तःकरण कितना निर्मल है और आप किस प्रकार पवित्र हृदयसे काम कर रहे हैं। फिर ईश्वर तो आपका सुहृद् है ही और आपको केवल ज्ञानमात्र ही जानेसे ही शान्ति मिलेगी—**ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति**। ऐसे ही अवसरके लिए भगवान्का यह वचन है—

तत्प्रसादात् परां शान्ति स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।

यही गीताके अन्तमें है। गीताका उपसंहार इस प्रकार है—

यत्र योगेश्वरः कृष्णः यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीविजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥

गीताकी यह जो फलश्रुति है, उसमें यह नहीं कि आप गीता पढ़ेंगे तो आपको यह फल मिलेगा वैकुण्ठ मिलेगा, अथवा आप मरनेके बाद मुक्त हो जाएँगे। यह भी नहीं कि आप गीता पढ़ेंगे तो आपकी समाधि लग जायेगी। ऐसी कोई भी बात नहीं। तब क्या है? यही कि आप जो साधन कर रहे हैं, कर्म कर रहे हैं, उपाय कर रहे हैं, वही योग है—**योगः संहननोपायः** योग शब्दका अर्थ है जोड़ना, योग शब्दका अर्थ है उपाय, योग शब्दका अर्थ है

करना। तो योगेश्वरका तात्पर्य है कि आप जो कर्म कर रहे हैं, उसका प्रवर्तक ईश्वर है, उसका निर्वाहक ईश्वर है, उसका फल-दाता ईश्वर है। आप तीन बातोंपर ध्यान रखें, जो कर्म आप कर रहे हैं उसकी प्रेरणा देनेवाला परमेश्वर है, उसको निभानेवाला परमेश्वर है और पूरा करनेंवाला भी परमेश्वर है। आप तो अर्जुनकी तरह हाथ-पांव बिल्कुल ठीक रखकर धनुष-बाण हाथमें लेकर, लक्ष्यवेधके लिए तैयार रहिये। तात्पर्य यह कि आपके रूपमें जीव कर्म करनेके लिए उद्यत है और प्रेरणा, निर्वाह तथा पूर्णता प्रदान करनेके लिए परमेश्वर प्रस्तुत है। फिर तो इस लोकव्यवहारमें आपको श्रीकी प्राप्ति होगी, विजयकी प्राप्ति होगी, भूति अर्थात् वैभवकी प्राप्ति होगी और आप एक निश्चयात्मक स्थितिमें चलेंगे। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि मेरा निश्चय, मेरा ज्ञान, मेरी बुद्धि वहीं होगी जहाँ मेरी प्रेरणा होगी। इसीलिए संजय बोलते हैं कि जहाँ श्रीकृष्ण प्रेरक हैं, निर्वाहक हैं, पूर्णताका दान करनेवाले हैं और जीव अपने कर्तव्यमें परायण है, अपने कर्तव्यका पालन कर रहा है वहाँ शंकाकी कोई बात नहीं। वहाँ तो श्री है, विजय है, वैभव है, ध्रुव नीति है और वहीं भगवान्‌का ज्ञान भी है। •

प्रवचन—१२

भक्तिका स्वरूप

संस्कृतमें भक्ति शब्दके मुख्य रूपसे तीन अर्थ होते हैं—एक तो **भजनं भक्तिः**—प्रेमपूर्वक भगवान्के भजनका नाम भक्ति है। दूसरा—**भञ्जनं भक्तिः** भञ्जो आमर्दने धातुसे भक्ति शब्द बनता है। दुनियामें जो आसक्ति है उसको भंजन करने, तोड़-देनेका नाम भक्ति है। और, तीसरा है **भागो भक्तिः**—अपनेको ईश्वरके भागके रूपमें अनुभव करना कि हम ईश्वरके अंश हैं—इसका नाम भक्ति है। शाण्डिल्यने भक्तिका यह लक्षण किया है कि ईश्वरके प्रति परम अनुरागका नाम भक्ति है। नारद जीने भक्तिका लक्षण दो प्रकारसे किया है—**सा त्वस्मिन् परमप्रेम-रूपा अमृतस्वरूपा च**। वे कहते हैं कि भक्ति परमात्मामें परम प्रेम स्वरूप है। कहीं कस्मै पाठ है तो कहीं अस्मिन् पाठ है। अस्मिन्का अर्थ यह है कि जो भगवान् हमको दीख रहा है, उसमें परम प्रेम ही जिसका रूप है वह भक्ति है। तो भक्तिका रूप है परमप्रेम और वह दीखनेवाले भगवान्में होता है। आँखसे दीख रहा हो चाहे मनमें दीख रहा हो, दीखना आवश्यक है। जो बिल्कुल दृश्य नहीं, मनसे जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती, बुद्धि जिसको सोच भी नहीं सकती, उससे प्रेम नहीं होता। प्रेम तो उससे होता है जो हमारी आँखोंके सामने, हमारे मनके सामने प्रकट हो! प्रेमके लिए तो आँखोंके सामने एक सीधा-सादा सच्चा विषय चाहिए। इसलिए नारद जीने भक्तिका लक्षण करते हुए कहा कि हमारे सामने जो परमेश्वरका रूप है

इसमें परमप्रेम होगा। यह है साधन भक्ति और दूसरी है—**अमृतस्वरूपा च**—भक्तिका स्वरूप है अमृत और रूप है प्रेम। यह फलरूपा भक्ति है।

जब भक्तिके सम्बन्धमें हम चर्चा करते हैं तो पहली बात आती है श्रवणकी। दुनियामें कोई अभीष्ट (इष्ट) चलते-फिरते दीख रहा हो तो उसको देखकर भी भक्ति कर सकते हैं। कभी उसका स्पर्श हो जाये तो गद्‌गद हो जायेंगे, उससे प्रेम हो जायेगा। प्रेम तो जिनको आँख नहीं, उनको भी होता ही है। पर वह प्रेमास्पदका स्पर्श करके या उसकी मीठी-मीठी आवाज सुनकर होता है। कोई सुगन्ध सूँघने अथवा कोई स्वाद चखने-पर भी प्रेम हो जाता है। प्रेम केवल आँखकी अपेक्षा नहीं करता। केवल आँखवाले ही प्यार करते हों, यह कोई नियम या मर्यादा नहीं। बिना आँखवाले भी प्रेम तो कर ही सकते हैं। परन्तु ईश्वरसे प्रेम करना हो तो वह न चामसे छूआ जा रहा है, न जीभसे चखा जा रहा है, न नाकसे सूँघा जा रहा है। फिर ईश्वरसे प्रेम कैसे हो? ईश्वरको 'यह' बनानेके लिए श्रवणकी आवश्यकता होती है। दर्शनशास्त्रका नियम है कि जो वस्तु नित्य परोक्ष हो, सर्वथा परोक्ष हो, उसका ज्ञान वाक्य-प्रमाणके द्वारा होता है। और नित्य अपरोक्ष रहकर भी शब्द-प्रमाणके द्वारा ही होता है। जैसे हमारा आत्मा नित्य अपरोक्ष है, परन्तु इसका जो ब्रह्मपना है वह अज्ञात है। उसके ज्ञानके लिए वाक्यकी आवश्यकता पड़ती है। तो, चाहे ईश्वर-विषयक ज्ञान हो, चाहे आत्माका ब्रह्मविषयक ज्ञान हो, ये दोनों श्रवणसे ही प्राप्त होते हैं। इनकी प्राप्तिके लिए श्रवणके सिवाय कोई दूसरा उपाय नहीं। जब हम भगवान्‌के गुणानुवाद-माहात्म्यका श्रवण करते हैं तब उनके दर्शनकी इच्छा उत्पन्न होती है। हम बचपनमें सुना करते थे कि महात्मा गांधी नामके एक व्यक्ति हैं, वे सत्य और अहिंसाके

पुजारी हैं, सत्याग्रही हैं. उनके अन्दर बड़े-बड़े सद्‌गुण हैं। उनके दर्शनकी इच्छा हुई और मैं वाराणसीसे वर्धा गया, सेवाग्राम गया। जब दर्शन किया तब पता चला कि वे कैसे हैं। जब वस्तु अपनी आँखोंके सामने नहीं होती और उसके माहात्म्यका श्रवण होता है, तब उसके दर्शनकी उससे मिलनेकी इच्छा होती है और उससे प्रेम भी होता है।

हम ईश्वरको दोनों तरहसे नहीं पहचानते। वह हमारी इन्द्रियोंसे नहीं दीखता, तब भी नहीं पहचानते और हजारों रूपोंमें दीख रहा है, किन्तु हमें उसकी पहचान नहीं, इसलिए दिखाई देनेपर भी हम उसको नहीं पहचानते। इस कारण उससे न तो प्रेम हो पाता है, न भक्ति हो पाती है। अतः परमेश्वरके प्रति प्रेम और भक्तिके लिए श्रवणकी आवश्यकता है। सुनो, समझो और उससे प्रेम करो। दुनियामें प्रेमभक्तिके मजहब बहुत हैं। यहाँतक कि बौद्ध और जैन भी, जो एक ईश्वरको स्वीकार नहीं करते, सद्‌गुणसम्पन्न, पवित्र और बुद्धत्वको प्राप्त जीवको ईश्वर कहते हैं। जो सद्‌गुणसम्पन्न शुद्ध इकाईके रूपमें होता है उसीको वे तीर्थंकर कहते हैं। उनके यहाँ चौबीस तीर्थंकर होते हैं। बुद्ध भी एक व्यक्तिके रूपमें ही होते हैं और अनेक होते हैं। वे लोग भी बुद्धकी, महावीर स्वामीकी, अपने तीर्थंकरोंकी भक्तिका वैसा ही वर्णन करते हैं जैसा हम लोग अपने एक ईश्वरकी भक्तिका वर्णन करते हैं। उनके हमारे भक्ति-वर्णनमें कोई अन्तर नहीं। हम बोलते हैं—**जगन्नाथ स्वामी नयनपथगामी भवतु मे**। और वे बोलते हैं—**महावीर स्वामी नयनपथगामी भवतु मे**।

तो भक्ति बौद्धों और जैनियोंमें भी है। ईसाई और मुस्लिम मजहब तो भक्तिसे भरपूर ही है। बाइबिल और कुरानशरीफ

एक ईश्वरकी भक्तिका ही प्रतिपादन करते हैं। गुरुग्रन्थसाहिब और जन्दावेस्ता भी भक्तिसे भरपूर हैं। हमको दिखाई न देनेवाले परोक्ष ईश्वरके प्रति भक्तिका उदय श्रवणके सिवाय और किसी साधनसे नहीं हो सकता। यदि हम किसी मूर्तिकी पूजा कर रहे हैं तो वह मूर्ति पत्थर है, सोना है, चाँदी है, ताँबा है, किसकी मूर्ति है और उसमें ईश्वर है या वह स्वयं ईश्वर—यह सब भी कानसे सुनना ही पड़ता है। बिना श्रवणके कोई मूर्तिका दर्शन करे तो उसमें उसका ईश्वर-भाव नहीं हो सकता। इसलिए भक्तिका मूल रूप श्रवणमें ही निहित है। श्रवण क्या करता है, कि किसी-न-किसी रूपमें प्रेम तो आपके हृदयमें है। यदि बीज नहीं हो तो काम नहीं बने। आसक्ति सबके हृदयमें रहती है। कोई बच्चेसे आसक्ति करता है, कोई शरीरसे आसक्ति करता है। कोई अपनी भोग्य वस्तुसे आसक्ति करता है। आसक्ति अन्तः-करणका सहज स्वभाव है। तो संसारमें जो आसक्ति है, उसकी जगहपर ईश्वरमें आसक्ति उत्पन्न करनेके लिए श्रवणकी आवश्य-कता पड़ती है। जो ईश्वरके बारेमें श्रवण नहीं करेगा, उसके हृदयमें भगवान्‌की भक्ति नहीं आयेगी। एकान्तमें बैठनेपर भी, जप करनेपर भी, ध्यान करनेपर भी जितना आपको मालूम है, वही बात आपके दिमागमें घूमेगी, उससे अधिक जानकारी नहीं प्राप्त हो सकेगी। अद्भुत बात यह है कि जहाँ बौद्ध और जैनोंका एक-एक व्यक्ति ईश्वर है और वे भी दुनियामें बहुत थोड़े हुए हैं तथा ईसाई, मुसलमानका ईश्वर निराकार है, वहाँ वैदिक धर्मके अनुसार ईश्वरको न एक व्यक्तिमें सीमित रखा गया है और न उसको केवल निराकार करके छोड़ दिया गया है। हमारी जो एक-एक व्यक्तिमें, जातिमें मजहबमें आसक्ति है और जिसके कारण हम बहुत अनर्थ करते हैं, मोहवश भाई-भतीजोंके प्रति, अपने मजहबवालोंके प्रति पक्षपात करते हैं और मजहबी लड़ाइयाँ

लड़ते हैं, यह सब ईश्वरका रहस्य न जाननेके कारण ही है। मजहबकी आसक्ति, जातिकी आसक्ति, पन्थकी आसक्ति, राष्ट्रकी आसक्ति, भाषाकी आसक्ति मनुष्यकी बुद्धिको संकीर्ण बना देती है, उदीर्ण नहीं होने देती। यहाँतक कि भक्ति सम्प्रदायोंमें भी ईश्वर और ईश्वरकी पूजाको एकांगी बनाकर लड़ाई करनेकी प्रवृत्ति आ जाती है। किन्तु हमारे वैदिक धर्मका जो परमेश्वर है, वह बहुत उदार है। अर्थात् वह सबमें है, सब जगह है और सबका संचालन कर रहा है। गीता कहती है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥ १८.४६

संसारके समस्त प्राणी जिससे प्रेरित होकर अपने-अपने कर्ममें प्रवृत्त हो रहे हैं, जिससे चींटी चल रही है, चिड़िया उड़ रही है, मछली तैर रही है और मनुष्य नाना प्रकारके कर्म कर रहा है, जिससे पंखा चल रहा है, बल्बमें रोशनी हो रही है, हीटर जल रहा है, रेफ्रीजेटर ठण्डा कर रहा है, अलग-अलग यन्त्र अपना-अपना काम कर रहे हैं और जिसके द्वारा सम्पूर्ण भूतोंकी प्रवृत्ति हो रही है, जो—**अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानां**—सबके भीतर रहकर सबका संचालन कर रहा है, वही ईश्वर है किन्तु ईश्वरके इस रूपका पता तो प्रायः सभी ईश्वरवादियोंको है। हमारे ईश्वरकी विशेषता यह है कि **येन सर्वमिदं ततम्**—वह केवल सबका संचालन ही नहीं करता, सब रूपोंमें भी वही है। कुछ लोग प्रश्न करते हैं कि ईश्वर यदि सबका संचालन करता है तो बुराइयोंका भी संचालन वही करता होगा। किन्तु ऐसी बात नहीं। आप देखो कि बिजलीका पंखा जब कभी खट-खट बोलने लगता है या उसमें-से आग निकलने लगती है तो वह पंखेका दोष है या बिजलीका? निश्चय ही वह यन्त्रकी त्रुटि

होती है, मशीनकी खराबी होती है, बिजलीका दोष नहीं होता। तो सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् परमेश्वर तो सबको एकरस शक्ति देता है, ज्ञान देता है, सत्ता देता है, आनन्द देता है। किन्तु जिसका अन्तःकरण वासनासे मलिन है, वह दोषी हो जाता है और जिसका अन्तःकरण शुद्ध है, उसको सद्गुणकी प्रेरणा मिलती है। आप ईश्वरसे क्या लेते हैं, यह आपके अन्तःकरणपर निर्भर करता है। परन्तु इसके आगे जो बात कही गयी है वह और बड़ी है—**येन सर्वमिदं ततम्—येन उपादानभूतेन ईश्वरेण इदम् सर्वं वस्त्रेषु सूत्रवत् ततम्**—जैसे कपड़ेमें सूत होता है इसी प्रकार यह जो विश्वरूपी वस्त्र है, इसमें सूत तथा ताना और बाना सब कुछ वही परमेश्वर है। इस प्रकारकी व्याख्या दुनियाके किसी भी दूसरे धर्ममें स्वीकार नहीं की गयी। इसका फल यह हुआ कि उनके यहाँ न तो मूर्तिपूजाकी मान्यता हुई और न अवतारकी क्योंकि जब ईश्वर सर्वरूप है तब मूर्तिके रूपमें भी वही है। यहाँतक कि यह पेड़ भी ईश्वर है, ईश्वर ही पेड़के रूपमें प्रकट हुआ है। इससे भी प्यार करो। वृन्दावनमें एक सज्जन थे, वे जब किसी बगीचेमें जाते थे तो पेड़के साथ लिपट जाते थे और कहते कि प्रभु ! तुम इस रूपमें आये हो ! तुम गर्मी सहते हो, सर्दी सहते हो, खड़े रहते हो किन्तु हमलोगों को सुख पहुँचानेके लिए छाया देते हो, फल देते हो।' इसमें न मजहबका भेद है न जातिका, न प्रान्तका भेद है न राष्ट्रका, न भाषाका भेद है। एक ईश्वर ही सबके रूपमें प्रकट हो रहा है। निमित्त कारण भी वही है माने सबका संचालक वही है और उपादान कारण भी वही है अर्थात् सब रूपोंमें वही बना हुआ है।

आपु अमृत आपै अमृतघट, आपहि पीवनहारि।
आपे ढूंढे आप ढुंढावे आपे ढूंढनहारि॥

वही अमृत है, वही अमृतघट है, वही पीनेवाला है। वह स्वयं ढूंढता है, स्वयं ढूँढा जा सकता और स्वयं ढूँढनेवाला है। परमेश्वरके इस रूपमें न लोक-परलोकका भेद है, न मैं और तूका भेद है और न शत्रु-मित्रका भेद है। ऐसा है सर्वात्मा ईश्वरका यह स्वरूप। इस प्रकार दर्शनपूर्वक जो ईश्वरकी भक्ति है, इसीको दर्शनशास्त्र बोलते हैं। पहले ईश्वरका दर्शन करो—एक सबके संचालक रूपमें, दूसरा सर्वरूपमें। गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—**सर्व सर्वगत सर्व उरालय**। परमेश्वर ही सब है, सबमें है और सबके हृदयमें रहता है।

यदि यह बात ध्यानमें आ जाये कि ईश्वर जड़-चेतन, चर-अचर सबमें है, वही चलनेवाला है और वही चलानेवाला है तो मानव समाजका दृष्टिकोण इतना उदार हो जायेगा कि भाषाका पक्ष लेकर मानवताका, मजहबका पक्ष लेकर धर्मका, प्रान्तका पक्ष लेकर राष्ट्रका, राष्ट्रका पक्ष लेकर विश्वका और दृश्य प्रपंचका पक्ष लेकर अदृश्य परपात्माका तिरस्कार नहीं किया जा सकेगा। क्योंकि ये सब परमेश्वरके ही स्वरूप हैं।

अब भक्तिका स्वरूप क्या है इसपर विचार करें। **स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धि विन्दति मानवः**। गीता कहती है कि हमें भक्तिमें पूजा उसीकी करनी है जो सबमें हैं, सबका संचालक है और सर्वरूप है। हम एक महात्माके पास बैठे थे। हमारे एक साथी घास नोचने लगे। वे महात्मा किसी आसनपर नहीं, धरतीपर ही बैठते थे। जब हमारे साथीने कुछ हरी-हरी दूब नोच ली, तब वे बोल पड़े, अरे क्या करते हो? देखो यह परमेश्वर माटीमें-से निकलकर कैसे हरी-हरी घासके रूपमें आया है। इसको यदि गाय चरेगी तो दूध बनेगा। वह दूध मनुष्य पीयेगा तो उससे वीर्य बनेगा। उस वीर्यसे मनुष्यका निर्माण होगा। यह माटी

मनुष्यरूप धारण करनेके लिए दूब बनी है। तुम इसको नोचकर फेंक दोगे तो फिर इसको दूब और मनुष्य बननेमें वर्षों लग जायेंगे। तुम बड़े आदरके साथ धरतीपर पाँव रखो, यह सोचकर कि धरतीमें भी परमेश्वर है। मुँहसे आवाज निकालो परन्तु यह सोचकर बोलो कि जिससे हम बात कर रहे हैं उसमें भी परमेश्वर है। इतना ही नहीं, तुम्हारी बात जो पास-पड़ोसमें सुन रहे हैं, उनमें भी परमेश्वर है। महात्माने कहा कि हमारी जीभसे जो आवाज निकलती है, मीठी-मीठी या कड़वी-कड़वी, उसको यहाँ रहनेवाले कीड़े, फतिंगे भी सुनते हैं, पशु-पक्षी भी सुनते हैं। उनके कानमें भी हमारी आवाज कर्ण-कर्कश होकर, कटु होकर नहीं जानी चाहिए; क्योंकि वे भी परमेश्वर हैं। तो, ईश्वर सबमें है, ईश्वर सब है, ईश्वर सबसे परे है और ईश्वर अपने-आपमें है। हम आपको श्रीमद्भागवतकी बात सुनाते हैं। उसके ग्यारहवें स्कन्धमें यह प्रश्न उठा कि ईश्वर सबमे है तो अपने-आपमें है कि नहीं? उत्तर मिला कि अपनेमें भी है। जब सबमें है तो अपनेमें क्यों नहीं होगा! तो बोले ठीक है हम आकाशमें अच्छे-अच्छे शब्द बोलकर, वायुमें सुगन्ध फैलाकर, अग्निमें हवन करके, जलमें पवित्र वस्तुएँ डालकर, पृथिवीको स्वच्छ रखकर इन सबके रूपमें भगवान्‌की पूजा करेंगे। परन्तु अपने रूपमें जो परमेश्वर है, उसकी पूजा कैसे करें? तो इसका उत्तर यह मिला कि अपनेको भी कष्ट मत दो—**भोगैरात्मानमात्मनि**—अपने हृदयमें भगवान्‌की पूजा ऐसे करो कि जैसे बाहर ईश्वरको भोग लगाते हो, वैसे भीतरवाले ईश्वरको भी भोग लगाओ। उसको भी जल दो, अच्छा रूप दो, अच्छे शब्द दो, स्पर्श दो, अच्छा भाव दो। पूजा करनेके लिए ईश्वर केवल बाहर ही नहीं होता, भीतर भी होता है। अपनेको ठीक ढंगसे रखकर ईश्वरकी पूजा करनी चाहिए। जो लोग अपनेको तकलीफ देते हैं, उनकी निन्दा तो गीतामें आप पढ़ते ही हैं—

कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान् विद्ध्यासुरनिश्चयान्॥ १७.६

हमारे शरीरमें परमेश्वर रहता है। जब हम शरीरको तकलीफ देने लगते हैं तो अपने हृदयमें रहनेवाले परमेश्वरको तकलीफ देते हैं तब पूजाकी पद्धति क्या है? आप सर्वधर्म-सम्मेलन कर लीजिए और उसमें सब धर्म समान हैं, इसकी खूब प्रेमसे चर्चा कर लीजिए। सब धर्मोंमें उत्तम-उत्तम बातें हैं और वे मनुष्य-जीवनका निर्माण करती हैं। परन्तु हमारे वैदिक धर्ममें जहाँ यह चर्चा है कि ईश्वरकी पूजा कैसे करना वहाँ यह कहते हैं चूँकि सब ईश्वर है, सबका अन्तर्यामी ईश्वर है, सबसे परे ईश्वर है और अपना आत्मा ही ईश्वर है। इसलिए ईश्वरकी पूजा करते समय यह ध्यान रखो कि किस ईश्वरकी पूजा कर रहे हो? सर्वात्मा ईश्वरकी पूजा कर रहे हो तो एक चिड़ियाका भी तिरस्कार नहीं करना चाहिए, चींटीका भी तिरस्कार नहीं करना चाहिए। जिसका तिरस्कार होता है उसका अहित नहीं होता, जिस शरीरसे तिरस्कारकी भावना निकलती है, उसका अहित होता है। इसलिए अपनेको ठीक-ठीक रखना ही, अपनेको सत्कर्मसे, सद्भावसे, सद्विचारसे सम्पन्न रखना ही ईश्वरकी पूजा है।

हमारा ईश्वर केवल वैकुण्ठमें ही नहीं, धरतीपर भी है। केवल निराकार ही नहीं आकार भी वही है। वह सर्व है, सर्वान्तर्यामी है, सर्वातीत है, अद्वितीय है, अपने आत्मासे अभिन्न है। जब परमात्माका ऐसा स्वरूप है तब उसकी पूजा भी वैसी ही होनी चाहिए। असलमें ईश्वर बाहरसे आवे यह जरूरी नहीं। परन्तु हमारे भीतरसे ईश्वर निकले यह बहुत जरूरी है। वह सबसे नजदीक है। तो वहींसे उसे प्रकट भी होना चाहिए। जब

हम कोई कर्म करें, तो इस प्रकार करें कि जो हमारे भीतर ईश्वर है वह हमारे कर्ममें प्रकट हो जाये। हमें यह ध्यान रहे कि जो काम हम कर रहे हैं, यह ईश्वरकी प्रेरणासे कर रहे हैं। इसको निबाहनेकी शक्ति भी ईश्वर ही दे रहा है और इसका फल भी ईश्वर ही है। तो अपने मर्ममें ईश्वरको अवतीर्ण कर लेना, यही उसकी पूजा है और यही कर्मयोगका स्वरूप है। बाहरसे बुलाकर, अध्याहार करके, ईश्वरको अवतीर्ण नहीं करना अपितु अपने भीतर जो अन्तर्यामी, अपने आत्मामें परमात्मा है उसको प्रकट करना है। जब आप कोई कर्म करें तो उसमें अपने सच्चिदानन्दको डाल दें, उसका खूब मजा लें और फिर उस कर्मको सबके प्रति अर्पित कर दें। उसके फलको अपनी ओर न खींचें, अपितु जो कर्म करें उसका फल सबको दें। आप कपड़ा बनाइये किन्तु उसका पैसा केवल आपके घरमें आये यह नहीं होना चाहिए। होना यह चाहिए कि सबको पहननेके लिए कपड़ा मिले। आप लोहा बनाइये, रुई बनाइये, गेहूँ, चावल, जौ आदि अन्न पैदा कीजिये परन्तु उस उत्पादनका उद्देश्य व्यक्तिगत सुख, व्यक्तिगत सुविधा, व्यक्तिगत आनन्द न होकर सबका हित हो। अपने कर्ममें ईश्वरको प्रकट कर देना कर्मयोग है और अपने प्रेममें ईश्वरको प्रकट कर देना ही सबसे प्रेम करना है। यह कोई स्वार्थी प्रेम नहीं, अपने सुख और कामोपभोगके लिए प्रेम नहीं है। तो, अपने कर्ममें ईश्वरको प्रकट करके उसके द्वारा ईश्वरसे ही प्रेम करनेका नाम भक्ति है। अपनी बुद्धिमें ईश्वरको प्रकट कर लेनेका नाम ज्ञान है। ईश्वर आपकी बुद्धिके पीछे बैठा है, वह बुद्धिमें आकर ईश्वरको ही देख रहा है और ईश्वरके लिए ही विचार कर रहा है। आपके काममें ईश्वर है, आपके प्यारमें ईश्वर है, आपके विचारमें ईश्वर है और आपकी एकाग्रतामें ईश्वर है। आप अपनी एकाग्रतामें ईश्वरको प्रकट करेंगे तो

उसका नाम योग होगा। आप अपने विचारमें ईश्वर प्रकट करेंगे तो उसका नाम ज्ञान होगा। आप अपने प्रेममें ईश्वरको प्रकट करेंगे तो उसका नाम भक्ति होगा और आप अपने काममें ईश्वर-को प्रकट करेंगे तो उसका नाम कर्मयोग होगा। कर्मका यह मतलब नहीं कि आप झाड़ू लगाते हैं कि वेदका पाठ करते हैं। आप बहुत बड़े वैज्ञानिक हैं कि बहुत बड़े वैदिक हैं, आप बहुत बड़े व्यापारी हैं कि बहुत बड़े सैनिक हैं। आप कोई भी काम करें तो उसमें हस्तपादादिका संचालन तो होता ही है। कहीं हाथ हिलता है, कहीं पाँव हिलता है, कहीं जीभ हिलती है। तो शरीरमें हिलनारूप जो कर्म हो रहा है इसमें क्या श्रेष्ठ है और क्या कनिष्ठ है, इसका विचार नहीं है। एक आदमी हाथसे सफाई कर रहा है, एक मशीन चला रहा है, एक शास्त्र लिख रहा है, एक सेवा कर रहा है। देखना यह है कि जो कर्म वह कर रहा है, किसलिए कर रहा है?

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।

गीता कहती है कि अपने कर्मसे उस परमेश्वरकी आराधना करो। तुम जो कर्म कर रहे हो, वह केवल परमेश्वरकी अर्चनाके लिए हो। चलते समय भी यह ख्याल रखो कि तुम्हारे पाँवोंकी ध्वनि ईश्वरको कर्कश न लगे। तुम्हारे बोलनेकी आवाज ईश्वर-को कटु न लगे। जो भी काम करो इतनी सुन्दरतासे अपने प्यारे ईश्वरके लिए करो कि वह मुग्ध हो जाये। हम देखते हैं टेलीफोनपर बात करते हैं। जब अपने मित्रका टेलीफोन होता है तो मीठी आवाजमें बात करते हैं और जो पसन्द नहीं होता, उसको डाँट देते हैं। अपना मित्र खाने बैठा हुआ हो तो हँस-हँस-कर उसको खिलाते हैं और यदि अपना मित्र न हो तो उपेक्षासे, बहुत गम्भीर होकर शिष्टाचारवश उसको खिलाते हैं। असलमें

सभी तो तुम्हारे प्यारे हैं। तुम्हारे घरमें जो भी जिस किसी भी रूपमें आया है, वह तुम्हारे प्यारेके रूपमें ही तो है। तो, भक्तिका स्वभाव है, स्वरूप है कि, स्वकर्मणा अपने कर्मके द्वारा **तमभ्यर्च्य**–ईश्वरकी अभ्यर्चा कीजिये।

अब ऐसा कर्म करनेका अधिकारी कौन है इसपर विचार कीजिए। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शुद्र अथवा बौद्ध, जैन, मुसलमान और ईसाई इनमें-से उस कर्मको करनेका अधिकारी कौन है? भक्तिका जो स्वरूप आपको बताया गया है, वैसी भक्ति कौन करे? इसका समाधान भगवान् करते हैं कि देखो कर्ताके साथ कोई विशेषण अथवा उपाधि लगानेकी जरूरत नहीं। **सिद्धिं विन्दति मानवः** यह कर्म मानवके लिए है। भगवान्‌की आराधना-को, भक्तिकी, पूजाकी यह पद्धति मनुष्यमात्रके लिए है। यहाँ अधिकारी अनधिकारोका कोई प्रश्न नहीं। श्रीमद्भागवत, उपनिषद्, गीता, सब-के-सब बताते हैं कि सब कुछ भगवान्‌का ही स्वरूप है। **सर्वं खल्विदं ब्रह्म। सद् हि इदं सर्वम्। चिद् हि इदं सर्वम्। आत्मैवेदं सर्वम्। स एवेदं सर्वम्। अहमेवेदं सर्वम्। ब्रह्मैवेदं सर्वम्।**

श्रुतियाँ घोषणा करती हैं कि सबके रूपमें परमात्मा ही है। गीता भी यही कहती है—**सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः। मया ततमिदं सर्वम्।**

सब भगवान्‌का स्वरूप है। श्रीमद्भागवत भी यही प्रकट करता है कि देखो बालक ब्रह्मरूप है। श्रीकृष्ण ही ग्वालबाल बन गये। बछड़े भी कृष्ण, ग्वाले भी कृष्ण, उनके छीके भी कृष्ण, उनके कपड़े भी कृष्ण, उनको लठिया भी कृष्ण, उनका खाना-पीना भी कृष्ण अर्थात् सबके रूपमें भगवान् श्रीकृष्ण प्रकट हुए हैं। आप जब यह श्रवण करेंगे तब भगवान्‌में भक्ति होगी। सारे श्रीमद्भागवतके श्रवणका सङ्कल्प यही है—

यथा हरौ भगवति नृणां भक्तिर्भविष्यति।
सर्वात्मन्यखिलाधार इति संकल्प्य वर्णय ॥

मनमें यह सङ्कल्प करो कि सर्वात्मा भगवान्में हमारी भक्ति होवे। हम भक्ति किस रूपमें कर रहे हैं, इसका ध्यान न रखकर हमारे हृदयमें भक्ति है कि नहीं, यह देखनेकी आवश्यकता है। एक तो हम किसी लालसे, कालेसे, पीलेसे, नाटेसे, लम्बेसे, मोटेसे, दुबलेसे भक्ति न करें। यह देखें कि हमारे सामने जो भी है भगवान्का स्वरूप है और हम भक्तिपूर्वक अनुभव करें कि प्रभु, तुम यह रूप धारण करके आये हो। सन्त नामदेवकी रोटी कुत्ता उठाकर ले गया और घी लेकर यह कहते हुए उसके पीछे दौड़े कि प्रभु चुपड़ लेने दो। उनको कुत्तेके रूपमें ईश्वर दिखाई पड़ा। तो हमारा ईश्वर यह है—'देख मौतका रूप धरे, मैं नहीं डरूँगा तुमसे नाथ।' भगवान् मृत्युका रूप भी धारण करके आवें तो उनके प्रति अपनी भक्ति बनी रहे। और, हम समझते रहें कि वे तो हमारे मित्र ही हैं।

एक सज्जन सुनाया करते थे कि एक बार दो मित्र कहीं यात्रा कर रहे थे। रातका समय था और वे बहुत बीहड़ जंगलमें भटक गये। उन्होंने आपसमें परामर्श किया कि हममें-से एक सोवे और एक जागे। तो एक सो गया और दूसरा जागता हुआ बैठ गया। थोड़ी देरमें वह क्या देखता है कि एक साँप फन फैलाये फुफकारता हुआ आ रहा है। उसने अपना डंडा बजाया और फटकारा कि दूर रहो। साँप वहीं रुक गया और बोला कि हमको इसका रक्त चाहिए, इसने हमको मारा है, हमारा खून बहाया है, हम इसका खून बहावेंगे। मित्रने कहा कि अच्छा तुमको खून ही चाहिए, तो इसको छूओ मत। उसने अपनी जेबसे चाकू निकाला और मित्रके शरीरमें थोड़ा-सा घाव करके रक्त निकाला और पत्तेपर

साँपके सामने रखकर बोला कि लो तुम्हें खून चाहिए था तो लेकर लौट आओ। मित्र बिल्कुल आँख बन्द किये पड़ा रहा। जब वह उठा, तब उसने पूछा कि क्यों भाई, जब मैंने तुम्हारे शरीरमें चाकू लगाया तो कैसा लगा ? उसने कहा कि मैंने आँख खोलकर देखा कि तुम हो, तुम्हारे हाथमें चाकू है तो मैंने सोचा कि मेरा अहित होनेवाला नहीं, कुछ-न-कुछ हित ही होगा। फिर मैंने आँख बन्द कर ली और मैं सो गया। सारी बात उसको मालूम थी। यह हुई एक मित्रकी मित्रपर विश्वासकी बात। किन्तु इससे यह तात्पर्य निकलता है कि जब ईश्वर जैसा मित्र हमें मिला है, तब हमको प्रत्येक परिस्थितिमें उसपर भरोसा रखना चाहिए।

मैंने कहीं पढ़ा था कि एक दम्पती पानीके जहाजमें यात्रा कर रहे थे। मार्गमें बड़ा भारी तूफान आया। पत्नीको डर लगा किन्तु पति बिलकुल नहीं डरे और अपना काम करते रहे। पत्नीने पूछा कि इतना बड़ा तूफान आया है, जहाज ऊपर-नीचे हो रहा है, लेकिन तुमको डर नहीं लगता ? पति चुपचाप उठा। उसने अपनी जेबमें-से पिस्तौल निकाली और पत्नीकी छातीपर लगाता हुआ बोला कि तुमको इससे डर लगता है ? पत्नी बोली कि नहीं, पिस्तौल क्या करेगा ? यह तो तुम्हारे हाथमें है। तब पति बोला कि जब मेरे हाथमें पिस्तौल देखकर तुमको डर नहीं लगता तो ईश्वरके हाथमें तूफान देखकर क्यों डर लग रहा है ? वह भी तो हमारा मित्र है, हितैषी है। जब उसके हाथमें तूफान है तो हमको डरनेकी क्या आवश्यकता है ?

तो भाई, ईश्वरकी आराधना और उससे प्रेम इस प्रकार करो कि सब कुछ सर्वात्मा परमेश्वरका स्वरूप है। उसके प्रति हमारी भक्ति और प्रीति बनी रहे। इसीलिए श्रीमद्भागवतका कहना है—

यस्यां वै श्रूयमाणानाम् कृष्णे परमपूरुषे।
भक्तिरुत्पद्यते पुंसः शोकमोहभयापहा॥ भा० १.७.७

आप भगवान्का चरित्र श्रवण कीजिए। संस्कृतमें श्रूयमणानाम्का अर्थ है श्रवणसमकालम् अर्थात् सुनते समय ही। श्रीमद्भागवतके एक-एक शब्द ज्यों-ज्यों आपके कानमें पड़ेंगे त्यों-त्यों आपके हृदयमें भक्ति प्रकट होगी और जब भक्ति प्रकट होगी तो तीन चीजें मिट जायेंगी। जब आपकी आसक्तिका मुँह कानके रास्ते मोड़ दिया जायेगा और भगवत्कथा आपके कानमें पड़ेगी और हृदयमें श्रीकृष्णका प्रेम उदय होगा तो तत्काल तीन बातें आपके जीवनमें नहीं रहेंगी। एक तो आपके मनमें जो पिछली बातोंके लिए शोक होता है— हमारा यह चला गया, हमारे पास यह नहीं रहा, उसका निवारण हो जायेगा। पीछेकी जो बातें हैं वह अच्छी हों तो भी आपको तकलीफ देती हैं कि अब वे नहीं रहीं और बुरी हों तब तो तकलीफ देती ही हैं कि हमने ऐसा बुरा क्यों किया? भूतकी बातोंको अधिक स्मरण करना ही शोक है। शोक भूतवृत्ति होता है। आप पिछली बातोंको याद कर-करके शोकग्रस्त हो जाते हैं। किन्तु जब भगवान्की याद आयेगी तो वह शोक मिट जायेगा। दूसरा यह कि आप भविष्यकी बातें सोच-सोचकर उनके लिए भयभीत हो जाते हैं। अच्छी बातकी भी कल्पना करें तब भी उसमें विघ्न न पड़ जाये यह भय ही है। और बुरी बातोंकी कल्पना करें तब तो फिर कहना ही क्या है! या तो आपको भूत लगा हुआ है अर्थात् भूतकालकी बातें आपके दिमागमें अधिक रहती हैं—जैसे कोई आदमी रास्तेमें चल रहा हो और उसका पाँव पीछेकी ओर फिसल जाये तो वह गिर पड़ता है, वैसे ही भूतकालकी बातें जब ज्यादा याद आती हैं तो आदमीको गिरा

देती हैं और जब आदमीका पाँव आगेकी ओर ज्यादा फिसल जाता है तब भी वह गिर पड़ता है। इसलिए मनपर भूत, भविष्य-की बातोंका बोझ लेकर मत चलिये। मोहके दल-दलमें मनुष्यका पाँव फँसता है। भयकी कल्पनासे मनुष्य शोक करने लगता है। लेकिन जब भगवान्‌की भक्ति आती है तब न भूतका शोक होता है, न भविष्यका भय होता है और न वर्तमानका होता है। उस समय हमारा हृदय अपनेमें ही विद्यमान ईश्वरको पकड़कर आनन्दसे भरपूर हो जाता है। इसीसे श्रीमद्भागवत और दूसरे शास्त्रोंका कहना है कि आप श्रवण कीजिए। श्रवणके साथ-साथ हमारी वाणी भी भगवान्‌के गुण वर्णन करे—

दुरवगमात्मतत्त्वनिगमाय तवात्ततनो-
श्चरितमहामृताब्धिपरिवर्तपरिश्रमणाः।
न परिलषन्ति केचिदपवर्गमपीश्वर ते।

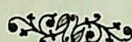
भक्त लोग कहते हैं कि हमको मोक्ष नहीं चाहिए। महात्मा लोग कहते हैं—**मोक्षेणारसिकेन किम्**—उस मोक्षको लेकर हम क्या करेंगे जो मरनेके बाद मिलता हो। हमको तो वह मोक्ष चाहिए जिससे इसी समय हमें परमानन्दका अनुभव हो। हम सत्यसे वञ्चित न रहें—**असतो मा सद्‌गमय**। हम अन्धकारमें न भटकें—**तमसो मा ज्योतिर्गमय** और हम मृत्युके फन्देमें न रहें, इसी जीवनमें अमृतत्वको प्राप्त करें। तो—**न परिलषन्ति केचिदपवर्गमपीश्वर ते।** हमें मोक्ष भी नहीं चाहिए, स्वर्ग भी नहीं चाहिए।

यदनुचरितलीलाकर्णपीयूषविप्रुट्-
सकृददनविधूत द्वन्द्वधर्मा विनष्टाः।

भगवान्‌के चरित्रकी एक बूँद, एक फुहिया, एक सीकर, जब कानमें पड़ता है तो मनुष्यका मन परम पवित्र, परम पावन होकर

एक अखण्ड आनन्दमें, परमानन्दमें डूब जाता है। और जब आपके हृदयमें परमानन्द प्रकट हो गया तो आनन्दपूर्वक बोलिये, आपके बोलनेसे आनन्द बरसेगा। आप आनन्दसे स्पर्श कीजिये आपके हाथमें-से आनन्दके झरने बहेंगे। आप जहाँ-जहाँ चलेंगे, वहाँ-वहाँ पृथिवी आनन्दित होगी। आप जो-जो करेंगे, वह लोगोंके लिए आनन्दका उद्‌गम होगा, उत्स होगा, स्रोत होगा। इसलिए अपने हृदयमें भगवान्‌को, भगवान्‌की भक्तिको, भगवान्‌की प्रीतिको बैठा लीजिये। आपके समस्त कर्म-कलापसे, यहाँतक कि आपकी साँससे भी प्रेम और आनन्दकी वर्षा हो, इसीका नाम भक्ति है। भक्ति आपके हाथसे भी हो, आपके पाँवसे भी हो, आपकी वाणीसे भी हो। यही भक्तिका स्वरूप है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥




एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति